देसहरियाणा

ISSN 2454-6879

मूल्य - 50 /-

वर्ष - 7, अंक - 36, सितंबर-अक्तूबर 2021



देसहरियाणा
साहित्यिक-सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मंच

ISSN 2454 -6878

वर्ष -7, अंक-36

सितम्बर- अक्तूबर 2021

सम्पादक

सुभाष चंद्र

यह अंक हमारी वेबसाइट

www.desharyana.in

पर उपलब्ध है।

सम्पादन सहयोगः	अरुण कैहरबा, जयपाल, कृष्ण कुमार, राजकुमार जांगड़ा
सलाहकारः	प्रो. टी.आर.कुंडू, सुरेन्द्रपाल सिंह, परमानंद शास्त्री, अशोक भाटिया, सत्यवीर नाहड़िया, जगदीश आर्य
प्रबंधनः	कीर्ति सैनी, विकास साल्याण, योगेश शर्मा
प्रकाशक:	सत्यशोधक फाउंडेशन, 912, सैक्टर-13, कुरुक्षेत्र -136118
संपर्क :	सुभाष चंद्र - 94164-82156, विकास साल्याण - 90501-82156
ई–मेल :	haryanades@gmail.com
वेबसाइट:	www.desharyana.in

सहयोग राशि

(पंजीकृत डाक खर्च समेत)

आजीवन: पांच हजार रुपए;

वार्षिकः पांच सौ रुपए (संस्था)
तीन सौ (व्यक्तिगत)

एक प्रति: पचास रुपए

आनलाइन भुगतान के लिए

Satya Shodhak Foundation

Indian Bank, Sector-13, Kurukshetra,

A/C No. -50490177180

IFSC - IDIB000K849

देस हरियाणा का अगला अंक

प्रख्यात कहानीकार

तारा पांचाल के व्यक्तित्व, सृजन और मूल्यांकन

पर केंद्रित होगा। रचनाकार संस्मरण, उनकी रचनाओं पर समीक्षात्मक आलेख या किसी भी विधा में रचनाएं भेज सकते हैं। किसी रचनाकार के पास उनके पत्र, छायाचित्र आदि मौजूद हों तो उनकी फोटो-प्रति देस हरियाणा के पते पर अथवा ईमेल से पहुंचाने का कष्ट करें।

सुभाष चंद्र, संपादक देस हरियाणा

haryanades@gmail.com

संपादकीय

कहाँ तो तय था चराग़ाँ हर एक घर के लिए
कहाँ चराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए

– दुष्यंत कुमार

आज हम कोरोना महामारी के संकट से जूझ रहे हैं, इस महात्रासदी में हरेक व्यक्ति ने अपना कोई-न-कोई नजदीकी खोया है। विकास की डींगे हांकने और हर संकट से निपटने में सक्षम शासन-व्यवस्था व मजबूत नेतृत्व का दावा खोखला साबित हुआ है। ऑक्सीजन के अभाव में तड़प-तड़प कर दम तोड़ते लोगों के हृदयविदारक दृश्यों ने खस्ताहाल चिकित्सा-व्यवस्था की वास्तविकता उजागर किया है। मिट्टी में तब्दील हो गए लोगों को जिस तरह ठिकाने लगाया गया वह मानव-शरीर का तिरस्कार ही कहा जाएगा। चारों ओर मातमी चुप्पी का पसारा है, अच्छे दिनों की मुस्कान केवल हर गली नुक्कड़ पर सरकारी विज्ञापनों के बड़े-बड़े होर्डिगों पर लटकते मंत्रियों-नेताओं के दमकते चेहरों पर दिखाई देती है।

शासन सत्ता के शीर्ष पर विराजितों और जनसाधारण की प्रतिक्रियाओं में अंतर होता है। मध्यकाल के संत-भक्त साहित्यकारों की वाणियों व उनसे जुड़ी जनश्रुतियों-किवंदंतियों-दंतकथाओं और आधुनिक काल के साहित्यकारों ने भी इसे स्पष्ट तौर पर रेखांकित किया है। इस दौरान भी जहां जनसाधारण भूखों-लाचारों की मदद में अपना सर्वस्व दांव पर लगाकर मानवीय जिजीविषा की दास्तान लिख रहा था, वहां शासन सत्ता और उसके लग्गे-भग्गे जनता में धर्म के नाम पर नफरत फैला रहे थे, असहायों-लाचारों-फरियादियों पर लाठियां भांजने से निपजी जन-पीड़ा का आनंद ले रहे थे।

इस दौर में जहां अधिकांश आबादी को भारी नुकसान हुआ है, वहीं चंद लोगों की दौलत में अथाह वृद्धि का रहस्य किसी से छिपा नहीं है। कैसा विरोधाभास है जहां किसान-मजदूर व तमाम मेहनतकश त्राहि-त्राहि कर रहे हैं वही पूंजीशाहों के मुनाफे में अकूत वृद्धि की खबरें सुर्खियां बन रही हैं। कमजोर वर्गों को शासकीय संरक्षण की जरूरत होती है, लेकिन जब शासन खुद पूंजीशाहों के संरक्षण में हो तो क्या उम्मीद की जा सकती है।

संकट काल हो या फिर सामान्य समय शासन सत्ता की प्रबंध व्यवस्था के कर्तव्य की इतिश्री केवल फरमान जारी करके हो जाती है। उसके लिए जरूरी व्यवस्थाएं करने में कोई दिलचस्पी नहीं लेती। यह प्रवृति स्वच्छता-स्वास्थ्य-शिक्षा के समस्त अभियानों में देखी गई है। स्वच्छता अभियानों में कृत्रिम कूड़ा साफ करने के लिए मंत्रियों-नेताओं-सेलेब्रिटियों की फौज के झाड़ू उठाए फोटो और स्वास्थ्य के लिए सड़क पर मैराथन दौड़ते, स्टेडियमों में चटाई पर योगासन में हांफते तुंदियल नेताओं के चित्र व वीडियो यही कहानी कह रहे हैं। सफाई के लिए कूड़ादान और स्वास्थ्य के लिए पौष्टिक आहार, डाक्टर, हस्पताल और दवाई के बिना ये सब उपक्रम एक पाखण्ड-यज्ञ में तब्दील हो जाते हैं।

हम आजादी का अमृत-महोत्सव वर्ष मना रहे हैं, लेकिन आजादी के समय जो मूल्य-आदर्श-संकल्प लिए थे उन्हें तिलांजलि दी जा रही है। भारतीय शासन-तंत्र और समाज में बदलाव स्पष्ट तौर पर लक्षित किये जा सकते है। उच्च पदों पर बैठे लोग खुलेआम संवैधानिक मूल्यों-आदर्शों को धता बता रहे हैं। लोकतंत्र व कानून के रखवाले 'सिर फोड़ने' के आदेश दे रहे हैं। नये भारत में जात-धर्म की संकीर्णता-कट्टरता-नफरत, परस्पर संदेह-भेद, झूठ-भ्रम, अंधविश्वास-रूढ़ियां-पुरातनपंथिता को तकनीक के पंख लग गए है। साहित्य-कलात्मक संवेदनाओं का दायरा सिकुड़ता जा रहा है।

ओलंपिक खेलों में श्रेष्ठ प्रदर्शन के लिए भारतीय खिलाड़ियों को सलाम। उनकी मेहनत, लगन व ज़ज्बे से देश का सिर ऊंचा हुआ है।

पड़ौसी देश अफगानिस्तान में तालिबानों का राजसत्ता पर कब्जे से दुनिया की प्रगतिशील शक्तियों को भारी धक्का लगा है।

इस अंक में

इस अंक में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र में इतिहास के प्रोफेसर एस के चहल की शीघ्र प्रकाश्य आत्मकथा का एक अंश देते हुए हमें खुशी हो रही है। इस अंक में दो युवा साहित्यकारों स्नेहलता और मुकेश कुमार की कविताएं, क्रांतिकारी शहीद भगवतीचरण वोहरा की शहादत के साक्षी विश्वनाथ वैशम्पायन जी द्वारा उनके अंतिम समय का संस्मरण, हरियाणा के सांस्कृतिक परिदृश्य विषय पर प्रोफेसर टी आर कुण्डू द्वारा दिया ओमप्रकाश ग्रेवाल स्मृति वक्तव्य, 'बाल-जगत' में गीत व कविताओं के महत्व पर प्रभात का महत्वपूर्ण लेख, 'शख्सियत' में कामरेड अब्दुल हई के जीवन-संघर्ष पर प्रकाश डालता सिद्दीक अहमद मेव का आलेख, 'मूल्यांकन' में शमशेर बहादुर सिंह की मुक्तिबोध की कविताओं पर टिप्पणी आपको पसंद आयेगी।

महामारी, लॉकडाउन व व्यक्तिगत समस्याओं इत्यादि के कारण पिछले अंकों की छपित-प्रति पाठकों तक नहीं पहुंचा पाए। केवल आनलाइन के जरिये ही पाठकों तक पहुंचा पाए। 'देस हरियाणा' के अंकों को हमारी वेबसाइट desharyana.in पर पढ़ सकते हैं और डाउनलोड कर सकते हैं।

इस दौरान टीम 'देस हरियाणा' के पास पाठकों की ओर से संकेत मिला कि आनलाइन माध्यम से बड़े आकार और एक से अधिक कॉलम वाले पेज को पढ़ना उतना सुविधाजनक नहीं है। इस पर विचार करते हुए प्रयोग के तौर पर 'देस हरियाणा' के आकार में बदलाव किया है। पाठकगण अपनी प्रतिक्रियाओं से अवगत करायेंगे। छपी हुई प्रति आप तक पहुंचाते हुए हमें अपार खुशी हो रही है। प्रतिक्रिया की इंतजार में ...

- सुभाष चंद्र



मैं भगवान को नहीं मानता। लेकिन यह जरूर मानता हूँ कि हमारे माँ-बाप ही हमारे भगवान होते हैं। हमारी जिन्दगी बनाने और इसे बचाने के लिए वे किसी भी हद तक चले जाते थे। कुछ नहीं था उनके पास, फिर भी हमें सब कुछ दे गए। खुद आजीवन भले ही वे दुश्वारियों एवं विपत्तियों से जूझते रहे, लेकिन जब तक जीवित रहे यथासम्भव उनकी आंच हम पर नहीं आने दी

ज़ख़्म अभी ताज़ा है

□ एस के चहल

मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, मेरी कहानी क्या है - ये सवाल शायद उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। विशेषकर उस समाज में जिसमें मेरा जन्म हुआ, मेरे जैसे व्यक्तियों के मामले में इनको कोई ज्यादा महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। उस समाज में तो कहानियां सिर्फ 'बड़े' लोगों की ही सुनाई जाती हैं। जैसे दादी-नानियों से अक्सर सुनते आए हैंः "एक राजा था ...।" या फिर साहित्यकारों की कथाओं में पढ़ते आए हैं "एक ब्राह्मण था ...।" नहीं, "एक गरीब ब्राह्मण था...!" "अब मैं न तो किसी राज-परिवार से सम्बन्धित था, न ही किसी ब्राह्मण या ऊंचे कुल से। हाँ, गरीब परिवार से जरूर था; निहायत ही गरीब परिवार से। लेकिन इससे क्या फर्क पड़ता है? हमारा परिवार जिस समुदाय से जुड़ा था, वह तो पूरा का पूरा ही गरीबी के गर्त में धंसा था। और वह भी सदियों से। मूर्धन्य साहित्यकार ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता की पंक्ति का इस्तेमाल करूं तो "सदियों का संताप" झेला था इस समुदाय ने। लेकिन इसकी

परवाह किसे थी? हमारा यह समाज मानता है कि हम लोग गरीब ही होते हैं। आखिर यह 'विधि का विधान' जो ठहरा। इस 'योनि' में जन्म लेकर हम पिछले जन्मों के कर्मों का फल जो भोग रहे हैं! तमाम शास्त्रों में यही तो लिखा है।

फिर भी मैं अपनी कहानी कहना चाहता हूँ। भले ही हमारे इस समाज के लिए इसका महत्त्व न हो, लेकिन कम-से-कम मेरे लिए तो है। मेरे अपनों के लिए, मेरे समुदाय के लोगों के लिए और शायद सभ्य दुनिया के लिए भी कुछ हद तक इसका महत्त्व हो। हालांकि वाल्मीकि के ही शब्दों में कहूँ तो अपनी कहानी सुनाना मेरे लिए उतना आसान नहीं होगा क्योंकि पिछली जिन्दगी के कई ऐसे पीड़ादायक प्रसंगों/अनुभवों को दोबारा झेलने के लिए खुद को तैयार करना पड़ेगा जिन्हें मैं भुला चुका था। या कम से कम भुला देने की कोशिश करता रहा था। सच कहूँ तो उनमें से कई बातों का जिक्र तो मैंने अपने निहायत करीबी जनों से भी नहीं किया है। मेरा बस चलता तो भुला ही डालता उन बातों को। लेकिन प्रखर स्मरण शक्ति न होने के बावजूद वे बातें मेरे जहन में कील की तरह गड़ी हुई हैं। खुशी के क्षणों में यकायक याद आ जाती हैं। सपनों में जिंदा हो उठती हैं। और कभी-कभी तब भी पुराने ज़ख़्मों की तरह हरी हो उठती हैं जब इतना 'सम्मानित' व्यक्ति बन जाने के बावजूद यह समाज मेरे साथ (या मेरे जैसे अन्य लोगों के साथ) बदस्तूर वैसा ही 'सुलूक' करता नजर आता है, जैसा यह सदियों से करता आ रहा है।

चूंकि उन यादों को भुला देने के मेरे सारे प्रयास व्यर्थ ही जाते रहे हैं, इसलिए आखिर उन्हें लिपिबद्ध करने बैठ गया हूँ। सवाल उठता है, कहां से शुरू करूँ? पहले उस स्वाभिमानी बच्चे की बात करूँ जिसने एक चांटे के बदले अपनी प्रथम कक्षा की अध्यापिका को तख्ती दे मारी थी। या उस जिद्दी छात्र की चर्चा करूँ जिसे उसके एक अध्यापक ने छठी क्लास में 'अड़ियल खोता' नाम देकर हीन भावना का शिकार बना दिया था। या उस बेकसूर बच्चे का दर्द बयां करूं जिसे उसके एक ब्राह्मण



अध्यापक ने सिर्फ इसलिए बुरी तरह दण्डित किया क्योंकि वह 'चमार' होकर भी पढ़ने में होशियार बनता था। या फिर उस किशोर के जीवन-संघर्ष की गाथा सुनाऊँ जिसने मैट्रिक से लेकर एम.फिल्. तक अपने पूरे कॉलेज और विश्वविद्यालय में अध्ययन के दिनों में तरह-तरह की 'पार्ट-टाइम' मजदूरी की। कभी-कभी सोचता हूँ कि मैं आज जिस ऊँचे मुकाम पर हूँ, वहाँ तक आखिर पहुँच कैसे गया? मुझे अपनी जीवन-यात्रा दुनिया का 'आठवाँ अजूबा' लगती रही है। शायद यह बात अतिश्योक्तिपूर्ण हो; क्योंकि मैंने मेरे जैसी पृष्ठभूमि से उठ कर आए कई अन्य लोगों की आत्मकथाएं/आत्मवृत पढ़े हैं; जैसे दया पवार, शरणकुमार लिम्बाले, ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्योराज सिंह 'बेचैन' आदि। उनके मुकाबले मेरा जीवन-संघर्ष कुछ भी नहीं है। लेकिन फिर भी मार्मिक तो है। और कुछ समानताएं भी हैं जो साझी पृष्ठभूमि की देन हैं। दया पवार के शब्दों का इस्तेमाल करूँ, कि यदि मेरा जन्म टुड्रा प्रदेश जैसे किसी अत्यधिक ठण्डे स्थान पर होता या अपने शब्दों में इसे ऐसे बयाँ करूँ कि यदि मैं सहारा के गरम रेगिस्तान की तपिश में पैदा हुआ होता तो भी मेरा जीवन कष्टपूर्ण होता। लेकिन वे कष्ट प्रकृति-निर्मित कारणों की देन होते न कि मानव-निर्मित कारणों की। लेकिन मनु के विधान को मानने वाले हमारे समाज में तो हमें नाम भी कुछ खास तरह

के मिलते हैं। जैसा कि समय-समय पर मुझे मिले। इस तरह हमारे दुःख, हमारी पीड़ाएँ, हमारी अनुभूतियां, हमारे संघर्ष दूसरों से अलग ही रहे हैं, भले ही सांस्कृतिक रूप से, और डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में कहूँ, तो नस्लीय या प्रजातिय रूप से भी हम दूसरों से कितने ही करीबी-से जुड़े हों।

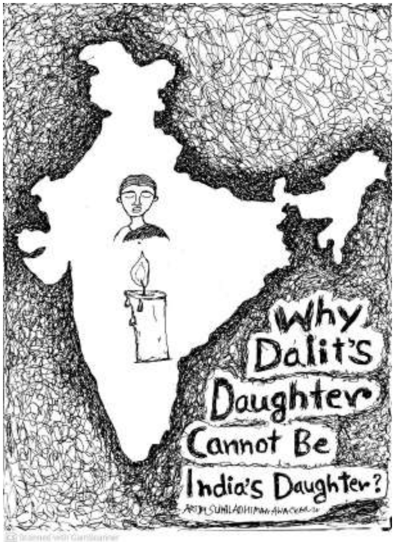
संस्कृति से ही बात शुरू करता हूँ। मेरा जन्म रोहतक शहर के डैहरी मोहल्ला में 6 सितम्बर 1968 को हुआ (मेरे अनपढ़ किन्तु जागरूक पिता ने हमारी घरेलू 'बही' में यह तिथि लिखवाई थी)। रोहतक हरियाणवी संस्कृति का गढ़ माना जाता है। हरियाणवी संस्कृति की कुछ खास विशेषताएं रही हैं; जैसेः 'लठमार' भाषा, अक्खड़ता, खास तरह का 'डिठोरा' या अकड़, थोड़ी उज्जड़ता, गंवारूपन, आक्रामकता, स्वाभिमान, अति-आत्मविश्वास, बहादुरी, हास्य-बोध आदि। वैसे तो ये लक्षण पूरे हरियाणा के लोगों में ही न्यूनाधिक रूप से पाए जाते हैं, किन्तु रोहतक के लोगों में ये जितने मुखर रूप में दृष्टिगोचर होते हैं, उतने अन्य क्षेत्रों के लोगों में नहीं दीखते। प्रायः इन गुणों को हरियाणा की प्रभुत्त्वशाली जाति जाटों से भी जोड़ कर देखा जाता रहा है। ऐतिहासिक रूप से हरियाणवी संस्कृति के विकास में कृषक पृष्ठभूमि से जुड़े जाटों की अहम् भूमिका होने के बावजूद कालान्तर में ये गुण एवं जीवन-मूल्य हरियाणा में रहने वाले तमाम लोगों के जीवन एवं संस्कृति का हिस्सा बन गए। हमारा समुदाय भी इसका अपवाद नहीं था।

लेकिन रोहतक शहर की संस्कृति पूरी तरह हरियाणवी नहीं थी, अपितु इसमें थोड़ा 'पंजाबियत' का तत्त्व भी घुल गया था। दरअसल 1947 में भारत के विभाजन के बाद काफी संख्या में पश्चिमी पंजाब (वर्तमान पाकिस्तान) से विस्थापित हो कर आए हिन्दू शरणार्थियों (जिनमें अधिकांश खत्री व अरोड़ा आदि थे) को हरियाणा के विभिन्न शहरों तथा गांवों में विशेषकर उन स्थानों पर बसा दिया गया था जहां पहले कभी मुसलमान रहते थे जो स्वयं विस्थापित होकर या तो

पाकिस्तान चले गए थे या मार डाले गए थे। चूंकि रोहतक शहर के मौहल्लों में पहले बड़ी तादाद में मुसलमान रहते थे जो 'मार-काट' या 1947 की भयानक साम्प्रदायिक हिंसा (जिसको मेरे पिता ने बचपन में स्वयं अपनी आंखों से देखा था) के बाद मार-भगाए गए थे, ऐसे में उनका स्थान बड़ी तादाद में पंजाबियों ने ले लिया गया था। हमारे मोहल्ले में भी कई पंजाबी रहते थे। उन दिनों रोहतक में पंजाबियों की दूसरी पीढ़ी, जिसका जन्म इसी शहर में हुआ था, पनप रही थी जो रोहतक के अन्य लोगों की तरह हरियाणवी रंग-ढंग सीख रही थी। हालांकि इन दोनों संस्कृतियों के लोगों के मध्य एक पूर्वाग्रह की दीवार भी नजर आती थी जिसके कारण दोनों के मध्य अधिक मेल-जोल नजर नहीं आता था।

लेकिन सबसे बड़ी 'दीवार' तो सम्भवतः हमारे समुदाय तथा शहर के अन्य लोगों के बीच मौजूद थी जो शायद तब से ही खड़ी थी जबसे हमारा शहर बसा था। बल्कि ऐतिहासिक रूप से उससे भी पहले से। वर्तमान रोहतक शहर का इतिहास मध्यकाल तक जाता है जिसे मुख्यतः मुसलमानों (रांघड़, शेख आदि) ने आबाद किया था। हमारा डैहरी मोहल्ला शहर के कुछ गिने-चुने पुराने मौहल्लों में से एक था जो कि शहर की उत्तरी दिशा में बिल्कुल बाहरी क्षेत्र में पड़ता था। असल में इस दिशा में तीन मोहल्ले आबाद थे: पहाड़ा मोहल्ला, सिलारा मोहल्ला और डैहरी मोहल्ला। इनमें ज्यादातर निम्न जातियों के लोग रहते थे। ये मोहल्ले सम्भवतः उसी मनुवादी योजना के अनुसार बसाए गए होंगें जो भारत के लगभग सभी शहरों-गांवों के मौहल्लों-बस्तियों के नियोजन के मूल में हमें साफ नजर आती है।

डैहरी मोहल्ला में मुख्यतः चर्मकार (अथवा चमार) एवं धानुक रहते थे। उनके अलावा 'माता दरवाजा' (जहां अक्सर बड़े-बड़े धार्मिक मेले जैसे माता को 'बासोड़ा' चढ़ाने का मेला, गोगा पीर का मेला, छड़ियों का मेला आदि लगते थे व बचपन में देखे उन मेलों की यादें मेरे जहन में अब भी ताज़ा हैं। और इसी तरह पहाड़ा मोहल्ला या पुराने बस स्टैण्ड के



पास स्थिति रामलीला ग्राउण्ड में रामलीला देखने जाने की यादें भी बनी हुई हैं) की तरफ कुछ जाट भी रहते थे जो सम्भवतः बाद में यहाँ आकर बस गए थे। उनमें से अधिकांश लोगों ने 'खोखराकोट' के उत्तर में अपनी कृषि भूमि के नजदीक एक गाँव भी बसा लिया था जिसे वे 'नया गाँव' कहते थे। खोखराकोट शहर के उत्तर दिशा में फैला विशाल निर्जन इलाका था जहां दूर-दूर तक छोटे-मोटे टीले नजर आते थे और जिसके बारे में यह कहा जाता था कि यहां कभी 'खोखरों', जो इतिहासकारों के अनुसार मूल रूप से यौधेय वंश के लोग थे, का बसाया हुआ पुराना 'रोहितिका' या 'रोहितक' होता था जो किसी प्राकृतिक आपदा में मलियामेट हो गया था।

जाटों और चमारों के बीच में धानुक बसे हुए थे। पहाड़ा व सिलारा मोहल्ले बगल में ही बांयी तरफ बसे थे। पहाड़ा मोहल्ले में अधिकांश संख्या में 'भंगी' या 'चुहड़े' (बाल्मीकि) रहते थे जो सुअर पालते थे तथा साफ-सफाई का कार्य करते थे। सिलारा मोहल्ले में अधिकांशतः कुम्हार रहते थे जो गधे एवं खच्चर पालते थे तथा चाक से मिट्टी के बर्तन बनाते थे। सभी मौहल्लों में बीच-बीच में कुछ पंजाबी भी बस गए थे जिनकी अधिकांश आबादी कायस्थान मोहल्ले तथा आगे चलकर चमेली मार्केट में रहती थी। हमारे मोहल्ले के दक्षिण में थोड़ी दूरी पर बाबरा बाजार था जिसमें मुख्यतः बनियों आदि के घर व दुकाने थीं। उसके दायीं तरफ आर्य नगर, चमेली मार्केट, किला मोहल्ला आदि थे जहां ज्यादातर पंजाबी रहते

थे। चमारों, धानुकों व भंगियों का अन्य लोगों के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं था।

जहां तक चमारों का सवाल है, उनकी पुरानी बस्ती (जिसे 'बगड़' कहा जाता था) सड़क के उस पार दक्षिण की तरफ थी जबकि नई बस्ती सड़क के इस पार उत्तर दिशा में खोखराकोट के नजदीक थी। पुरानी बस्ती में हमारा पुश्तैनी मकान होता था जहां मेरे ताऊ सन्तलाल के परिजन रहते थे, जबकि मेरे पिता के हिस्से में नई बस्ती का एक प्लाट आया था जिसमें उन्होंने अपनी मेहनत की कमाई से एक पक्का कड़ियों वाला मकान बना लिया था। इसी मकान में मेरे समेत हम नौ भाई-बहनों का जन्म हुआ जिनमें से हम पांच भाई एवं एक बहन जिन्दा रहे और तीन (दो बहनें एवं एक भाई) बचपन में ही मर गए। हमारी बस्ती के अधिकांश अन्य लोगों की तरह मेरे पिता चर्मकारों वाला पुश्तैनी कार्य करते थे। वे बड़े मेहनती मोची थे और जवानी के दिनों में एक दिन में दर्जन-भर जोड़े जूतियाँ बना लेते थे। मेरी माँ एक गृहिणी थी। वे पिता के काम में भी हाथ बंटाती थी। साथ ही वे जाटों के खेतों से हमारे पालतू पशुओं के लिए चारा या घास भी काट कर लाती थी। बाद के दिनों में (जब हमारे परिवार पर गरीबी की मार बढ़ी) उन्होंने खेतों व निर्माण-कार्यों में मजदूरी का भी कार्य किया।

चर्मकारों की नई बस्ती, जहां हम रहते थे, की तस्वीर मेरे ज़हन में अब भी स्पष्ट रूप से अंकित है। सड़क पर एक बड़ी 'परस' (चौपाल) बनी थी जिसे हम लोग 'अम्बेडकर चौपाड़' तथा बाकी लोग 'चमारों की चौपाड़' कहते थे। उस जमाने यह चौपाल काफी बड़ी तथा शहर की शानदार चौपालों में से एक थी। सड़क से जो मुख्य गली इस बस्ती की ओर उत्तर में आती थी, वह बीच में मौजूद एक कुएं के पास से गुजरते हुए राख के एक ऊँचे पहाड़ 'ढ़ा' पर जाकर समाप्त होती थी। उक्त गली 'ढा' के पास एक कच्चे रास्ते में बदल जाती थी। यह रास्ता थोड़ा ऊँचा उठकर राख के उस पहाड़ के साथ-साथ चलकर आगे चमारों की शमशान भूमि

एवं खोखराकोट की ओर चला जाता था। मुख्य गली से कुछ अन्य छोटी गलियां जुड़ी थी। उन्हीं में से एक पूर्व की ओर जाने वाली एक छोटी-सी गली थी जिसमें हमारा घर था। हमारे अलावा इस गली में दो-तीन घर ही और थे। हमारे दायीं और जमादार ताऊ (जो फौज से रिटायर्ड जमादार थे) और उसके पुत्रों के घर थे। हमारे सामने सुबे सिंह ताऊ (जो 'बगड़' में रहते थे) का मकान था जिसमें प्रायः किराएदार रहते थे। हमारे बायीं ओर सन्तलाल ताऊ एवं बिरखे ताऊ के खाली प्लाट थे और अन्त में वेदपाल का मकान था जो उन्होंने बाद में बनाया था। उनका मकान मिट्टी की एक ऊँची-सी 'ढ़ा' से सटा था जो खोखराकोट के टीलों का ही एक हिस्सा थी। हमारी पूरी नई बस्ती के लिए नगरपालिका की ओर से मात्र एक ही नल लगाया गया था जहां पानी भरने के लिए महिलाओं के बीच अक्सर भीषण झगड़े व मारपीट हुआ करते थे। मैंने बचपन में अपनी माँ को पानी के लिए होने वाले उन युद्धों में कई बार भाग लेते हुए देखा है। चूंकि मेरी माँ काफी ताकतवर थी, इसलिए उनसे कोई नहीं जीत पाता था; यहाँ तक मर्द भी नहीं। मैंने उन्हें स्वयं कई औरतों और यहां तक कि मर्दों को भी पीटते हुए देखा था। हालांकि स्वभाव से वे कतई उग्र नहीं थी।

जैसा कि ज्यादातर दलित बस्तियों में देखने को मिलता है, हमारी बस्ती में भी भारी गरीबी और गरीबी-जनित समस्याओं (जैसे घरेलू कलह, झगड़े, नशाखोरी, निरक्षरता, जुआ-मटका, आपसी रंजिश, गुण्डागर्दी, अपराध इत्यादि) का बोलबाला था। सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की उन नाकारात्मक चीजों के बावजूद एक आशा की किरण भी नजर आती थी; और यह थी - सामाजिक चेतना जो कि 'अम्बेडकरवादी' विचारधारा के प्रसार के कारण फैल रही थी। इसके कारण लोगों ने अपने बच्चों को पढ़ाना-लिखाना शुरू कर दिया था।

दरअसल, बीसवीं शताब्दी के छटे-सातवें दशकों तक आते-आते हमारे मोहल्ले के लोगों में दलित अस्मिता, स्वाभिमान एवं स्वालम्बन जैसी भावनाओं का जन्म हो चुका था। वस्तुतः बस्ती के लोगों में

सामाजिक चेतना का जन्म तो पांचवे-छटे दशकों में ही हो चुका था। मोहल्ले के लोगों का एक दल (जिसमें मेरे युवा पिता भी शामिल थे) 1956 में दिल्ली में डॉ. अम्बेडकर से मिलने एवं उन्हें एक सभा हेतु आमन्त्रित करने गया था, हालांकि बीमार होने के कारण बाबासाहेब हमारे यहां आ नहीं सके थे। यह सम्भवतः उस मुलाकात का ही असर था कि मेरे पिता समेत तमाम लोगों ने उसके बाद अपने बच्चों को पढ़ाना-लिखवाना शुरू कर दिया था। इससे पहले बाबासाहेब की ही बात मान कर न केवल रोहतक, अपितु हरियाणा-भर के चर्मकारों ने मुर्दा पशुओं को उठाना, उनका चमड़ा उतारना एवं मुर्दा-मांस खाना छोड़ दिया था और इस सम्बन्ध में बकायदा 'लोटे में नमक' डाल कर पक्की शपथ ले ली थी। हमारे मोहल्ले में उसके बाद हड़वारी वाली जगह ('जोहड़ी') का इस्तेमाल बन्द हो गया था। मेरे पिता भी अपने बचपन में मुर्दा पशुओं को उठाने व कमाने का काम कर चुके थे, परन्तु अब वे सिर्फ मोचीगिरी का काम करते थे। जाहिर है, 'संस्कृति' का जन्म अब हमारे लोगों में भी हो रहा था।

हमारे परिवार में पुरानी वंशावलियों के रिकार्ड नहीं रखे जाते थे। दबी-कुचली जाति होने के चलते ऐसी जानकारियां रखने की परम्परा हमारे यहां नहीं थी। हां, इतना अवश्य सुनते आए हैं कि हमारे पुरखों का रिकार्ड 'गढ़-गंगा' (गढ़ मुक्तेश्वर, जहां मृतकों के 'फूल' या अस्थियां ले जा कर गंगा में बहाने की प्रथा हम चमारों में भी थी) में मौजूद होगा। हमारे मोहल्ले में हमारा गोत्र अर्थात् 'चहल' या 'चाहलीया' प्रमुख गोत्र था। चहलों के अलावा 'सोहल' भी यहां पहले से रहते आए थे। उनके अलावा 'वामणिया' गोत्र वाले थे जो बाद में महम से आकर यहां बसे थे। इसलिए उनको 'महमीए' भी कहा जाता था।

हमारे गोत्र के जो पुरखे सर्वप्रथम यहां बसे थे उनका नाम धानु राम था। उन्हीं के नाम से हमारे कुल को सामूहिक 'धानुवाडा' भी कहा जाता था। हमारे किसी परदादा के पिता का नाम नानक था जिनके दो पुत्र थे। उनके नाम थेः उद्दी और पाली। उन्हीं के वंशज आज बढ़ते-बढ़ते सैंकड़ों

परिवारों के रूप में अस्तित्व में आ चुके हैं। उन दो पुरखों के नाम पर चहल गोत्र के लोग दो कुनबों में बंटे थे जिनमें थोड़ी शत्रुता भी थी। हम स्वयं को 'पाली' का वंशज मानते है। इसके अलावा हमें हमारे दादा हरनाम का नाम ज्ञात है। हमारे दादा के तीन पुत्र थे जिनके नाम थे: सन्तलाल, रोशनलाल और बलवन्त सिंह। बलवन्त सिंह मेरे पिता थे जो सबसे छोटे थे।

मेरे पिता अथवा 'काका' (बचपन में हम सब उन्हें 'काका' कहते थे जिसका अर्थ चाचा होता है। दरअसल, हरियाणा में लोगों को 'बाप' अथवा 'पिता' कहलाने में शर्म आती थी, इसलिए वे बच्चों से 'काका' या 'चाचा' कहलवाते थे। हालांकि बड़ा होने के बाद मैं उन्हें पिता-जी कहने लगा था) का व्यक्तित्त्व बड़ा शानदार एवं प्रभावशाली था। वे गौर-वर्गीय, लम्बे व सेहतमन्द (लेकिन मोटे नहीं) जवां मर्द थे। वे भगत सिंह स्टाइल की मूछें रखते थे। उनके चेहरे पर एक रौबदार किन्तु मनमोहक मुस्कान हमेशा तैरती रहती थी। उनकी आवाज दमदार थी, लेकिन वाणी में मिठास थी। आमतौर पर वे खुश रहते थे, लेकिन कभी-कभी वे क्रोधित भी होते थे। उस समय सब उनसे डर जाते थे। मेरा तो डर के मारे पेशाब निकल जाता था। लेकिन वे कभी-कभार ही हमें डांटते थे। एकाध बार पिटाई भी हो जाती थी। विशेषकर मेरे बड़े भाई रणवीर ने पढ़ाई में कमजोर होने के कारण उनसे बहुत मार खाई थी। हालांकि बचपन में मैं बहुत शैतानियां करता था, लेकिन मैंने शायद ही कभी उनकी मार खाई होगी। दरअसल बदमाशी करने के बाद मैं भाग खड़ा होता था और काका का गुस्सा ठण्डा होने के बाद ही घर लौटता था। ऐसी स्थिति में माँ अक्सर मुझे बचा लेती थी।

जैसा कि बतला चुका हूँ, पिता-जी बहुत मेहनती थे; इसलिए उन्होंने अपनी मेहनत की कमाई से हमारा मकान बनाया था। मकान बनाने के लिए उन्होंने अपने विवाह के कुछ समय बाद मेरे मामा ऋछपाल (जो सेना से रिटायर्ड पेंशनर थे तथा दिल्ली में नौकरी करते थे)



से कुछ रुपए उधार लिए थे जिन्हें जल्दी ही उन्होंने लौटा दिया था। पिता-जी को धूम्रपान (हुक्का-बीड़ी) के अलावा और कोई लत नहीं थी। इसलिए उनके पास जवानी के दिनों में ठीक-ठाक रुपया-पैसा होता था। उन्होंने जो मकान बनाया था, वह उस जमाने में हमारी जात की हैसियत के लिहाज से काफी अच्छा था। इस मकान में एक बड़ी बैठक (जिसमें पिता-जी अपनी मोचीगिरी की 'दुकान' लगाते थे और सोते थे) और पीछे की तरफ एक लम्बी 'साल' (बड़ा कमरा) थी। 'साल' का एक दरवाजा बैठक में खुलता था, जबकि दूसरा दरवाजा दायीं तरफ बने आंगन में। पिता-जी ने इसी मकान की बैठक में बैठकर ताउम्र जूतियां बनाई। उनकी उस 'दुकान' की छवि मेरे दिमाग में ज्यों-की-त्यों अंकित है। वे बैठक के मुख्य दरवाजे के दायीं तरफ बैठते थे। उनके पीछे दीवार में एक खुली अलमारी बनी हुई थी जिसमें उनका सामान भरा रहता था। वे एक 'तपड़ी' (पुराने कपड़ों से बनी हुई सीट) पर बैठते थे। उनके आगे एक पत्थर की सिल तथा दायीं तरफ पानी की कुण्डी या कठौती होती थी। उनके आजू-बाजू जूती बनाने के औजार - मोगरा, आर, रांपी (या राम्बी), नहिया, सुतारी, फली (लकड़ी का एक औजार जिस पर रख कर चमड़ा काटा जाता था), खुरपी आदि - रखे होते थे। जब वे हाथ में मोगरा ले कर सिल पर चमड़ा कूटते थे, तब महान दलित सन्त गुरु रविदास की छवि मेरे जहन में साक्षात् रूप से जिन्दा हो उठती थी। गुरु रविदास की यह छवि हमारे घर की बैठक में ही दीवार पर टंगे एक कलैण्डर में हमें नजर आती थी। फर्क सिर्फ इतना होता था कि पिता जी सिर्फ मूछें रखते थे जबकि गुरु रविदास लम्बी काली दाढ़ी में नजर आते थे। पिता-जी काम करते हुए हमें गुरु रविदास द्वारा मध्यकाल में ब्राह्मणवाद से लड़ी गई लड़ाई की वह कहानी अक्सर सुनाते थे

जिसकी शिक्षा होती थी, "मन चंगा तो कठौती में गंगा !" पिता-जी अपनी जूतियों को बाजार में पंजाबियों की एक बड़ी दुकान में बेच कर आते थे। वापसी में हमारे लिए खाने-पीने की चीजें अवश्य आते थे। विशेषकर बाबरा बाजार के हलवाईयों की स्वादिष्ट मिठाईयां वे अक्सर लाते थे। जब वे जूतियां बेचकर घर आते थे तो दस-दस पैसे, कभी-कभी चवन्नी या अठन्नी भी, चुटकी से उछाल कर हम तीन छोटे भाईयों की तरफ फेंकते थे जिन्हें हम तुरन्त लपक लेते थे और दौड़कर सड़क पर स्थित पंजाबियों की दुकानों से 'चीजें' ला कर खा लेते थे।

अपने बचपन के दिनों मे 'जोहड़ी वाले घर' में पिता-जी के साथ लम्बे समय तक रहने के कारण मेरा उनसे गहरा भावनात्मक सम्बन्ध विकसित हुआ, हालांकि हम दोनों का ही मिजाज थोड़ा 'गर्म' होने के कारण इस रिश्ते में कभी-कभी तल्खी आ जाती थी। खासकर किशोरावस्था के दिनों में उनसे अक्सर झगड़ा कर बैठता था (हालांकि बाद में मैं मन-ही-मन पछताता भी और खुद की ओर से माँ से उन्हें माफी मांगने को कहता था)। मैं आज अनुभव करता हूँ कि पिता-जी मुझसे कहीं अधिक सहनशील थे और मेरी गलतियों को अक्सर बिना कहे ही माफ कर देते थे। वे मेरे गुणों एवं उपलब्धियों पर अत्यधिक गर्व करते थे। बाद में रेवाड़ी तथा उसके पश्चात् कुरुक्षेत्र में लेक्चरर नियुक्त हो जाने के बाद वे सबको मुझे सगर्व "मेरा प्रोफेसर बेटा" कह कर परिचित कराते। जोहड़ी में पिता-जी के साथ रहते वक्त मैंने उनके उस महान संघर्ष को करीबी से देखा जिसमें वे अपने बच्चों के भविष्य की खातिर हमेशा अपनी जान तक को जोखिम में डालकर भी निरन्तर लगे रहे।

मेरी माँ का व्यक्तित्व भी पिता-जी की तरह काफी दमदार था। उनके व्यक्तित्त्व में कठोरता एवं लचीलापन दोनों शामिल थे। मुझे बचपन की वे झलकियां कभी नहीं भूलती जिनमें मेरी माँ लोक गीत गाते हुए, दूध-बिलोती, मिट्टी के चूल्हे से स्वादिष्ट साग-रोटियाँ बनाती, मेरे जागने पर मुझे लाड़ लड़ाती और मक्खन चटाती दिखाई देती हैं। वैसे तो

उनका व्यवहार सबके प्रति प्रेमपूर्ण होता था, किन्तु विवाद होने पर वे बड़े-बड़ों से भिड़ जाती थी। परन्तु मेरे पिता से वे डरती थी। हालांकि वृद्धावस्था के दिनों में कभी-कभी पिता-जी को भी खरी-खरी सुनाने लगी थी। एक हरियाणवी व्यक्ति (खासकर जाट) अक्सर बुढ़ापे में जाकर ही पत्नी के हाथों सीधा होता है! वस्तुतः उन दोनों में बहुत गहरा प्रेम था जो ऊपर से कभी-कभार ही नजर आता था। वे मेरे पिता के सुख-दुख की सच्ची साथी थीं। और साथ ही हमारी सच्ची संरक्षिका भी जिसने खुद मेहनत-मजदूरी कर हमारी पढ़ाई कभी नहीं रुकने दी। मां काफी बुद्धिमान भी थी। अनपढ़ होने के बावजूद वे उंगलियों पर ही हिसाब लगा लेती थी। उन्हें देसी महीनों के नाम तो याद थे ही, हमारी देखम-देख अंग्रेजी के दिन-महीना-साल भी याद कर लिये थे। उन्होंने ही सोच-विचार कर मेरा नाम 'सरवर कुमार' रखा था। मेरा ही नहीं, मेरे सभी भाई-बहनों के नाम भी उन्होंने ही रखे थे। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि मेरा नाम मूलतः फारसी भाषा से आया है जिसका अर्थ 'सरदार' या 'मुखिया' होता है (स्वयं पैगम्बर हजरत मोहम्मद को 'सरवरे-कायनात' कहा गया है)। हमारे हरियाणा-पंजाब में मिली-जुली तहज़ीब होने के कारण विशेषकर मेहनतकश वर्गों में ऐसे नाम रखने का आमतौर पर चलन था। मुझे अपनी अनपढ़ किन्तु प्रबुद्ध माँ द्वारा रखे गए खुद के भिन्न तथा शानदार नाम पर हमेशा गर्व होता रहा है।



मुझे याद है किसी समय मेरी माँ के पास ढेर सारी परम्परागत हरियाणवी 'टूम' (जैसे सोने की कंठी, बोरला, टीका, हंसली, तागड़ी, हार, कड़ी, छलकड़े, बुन्दे, अंगूठी

इत्यादि) होती थी जो उन्हें कभी अपने विवाह के दहेज में मिली थी। मेरी माँ शादी-विवाह या तीज-त्यौहार पर उन्हें कभी-कभी पहनती थी। जब बावन-गजा हरियाणवी दामण, कुरता व चूंदड़ी पहन कर तथा हार-सिंगार कर वे 'दौघड़' लेकर (दो घड़े सर पर रखकर) पानी लेने जाती थी, तब उनकी शानदार छटा देखते ही बनती थी। मेरे पिता भी 40-45 साल की उम्र ('पछेती' अर्थात् बाद की औलाद होने के कारण मैंने उन्हें उसी उम्र से देखना शुरू किया था) में शानदार हरियाणवी मर्द लगते थे। सफेद-झक तहमद (धोती), खण्डवा, कुर्ता और नोकदार मड़कनी जूतियां पहनकर अपनी ताव दी हुई मूंछों और मोहक मुस्कान के साथ जब वे कहीं जाने के लिए निकलते थे तो लोग (और लुगाइयाँ) उन्हें पीछे मुड़-मुड़ कर देखते थे। कोई इस बात पर यकीन नहीं कर पाता था कि वे चमार होंगें! वक्त की कैसी मार पड़ी थी। शानदार व्यक्तित्व के धनी मेरे वही माता-पिता मोहल्ले के अधिकांश अन्य लोगों की तरह अब 'दलित' लगने लगे थे। उसके पास कुछ नहीं बचा था।

जाहिर है, बचपन में हमारे घर में मैंने गरीबी को कभी ज्यादा महसूस नहीं किया था। मोची होने के बावजूद मेरे पिता-जी अपने परिश्रम के दम पर खूब कमाते थे। मेरी माँ खेत-क्यार का काम जरूर करती थी, लेकिन मजदूरी पर कभी नहीं गई थी। लेकिन सदी के आठवें दशक में कई कारणों से गुरबत ने हमारे घर में दस्तक देनी शुरू कर दी। इनमें से कुछ कारण 'बाहरी' थे, जबकि कुछ 'आन्तरिक' या घरेलू। 'बाहरी' कारण ज्यादा गम्भीर थे। दरअसल, आठवें दशक में भारत के कई हिस्सों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया तेज हो रही थी। इसके कारण जहां एक तरफ नए उद्योगों में अकुशल श्रम के लिए अवसर बढ़ रहे थे तो वहीं परम्परागत हस्तशिल्प के पेशों में लगे कुशल कामगारों के अवसर छिन रहे थे। इसके कारण लुहार, कुम्हार, चर्मकार, बुनकर आदि अनेक परम्परागत शिल्पकारों के सामने धीरे-धीरे घटती आय और अन्ततः बेरोजगारी का संकट उत्पन्न होता जा रहा था। जाहिर है, हमारे पुश्तैनी

पेशे (यानी मोचीगिरी) के सामने भी यह संकट स्पष्ट तौर पर उभरने लगा। बाटा जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के अलावा हमारे यहां हरियाणा में लखानी, लिबर्टी इत्यादि अनेक ऐसी कई देशी कम्पनियां खड़ी हो रही थी जो नई प्रौद्योगिकी की मदद से आधुनिक किस्म के तथा तुलनात्मक रूप से सस्ते जूते-चप्पल बना रही थी। वस्तुतः उन दिनों आधुनिक जूते-चप्पलों से हमारे शहरों के बाजार अंट गए थे। इसके कारण मोची द्वारा बनाई जाने वाली परम्परागत जूतियों या चप्पलों के खरीदार तेजी से कम हो रहे थे। मांग कम होती जा रही थी और आपूर्ति उतनी ही थी। फलस्वरूप कीमतें कम होने लगीं। उन दिनों मैं पिता-जी के मुंह से ऐसी शिकायत अक्सर सुनता था कि इतनी मेहनत करने के बाद भी उनको ज्यादा बचत नहीं हो पा रही। पिता जी तब लगभग पचास की उम्र में पहुंच गए थे। बड़े परिश्रम के साथ पांच-छः जोड़े जूते अब भी बना लेते थे। लेकिन जब वे उन्हें बाजार में पंजाबियों की बड़ी दुकान पर बेच कर आते तो जितने रुपये मिलते, उनमें से अधिकांश तो नया कच्चा माल यानी 'चाम' (चमड़ा) खरीदने में ही खर्च हो जाते। बचे हुए पैसों में बड़ी मुश्किल से घर का गुजारा हो पाता था। यह वह समय था, जब हम तीन छोटे भाई बड़े हो रहे थे और हाई-स्कूल में पढ़ रहे थे। जाहिर है, इस स्थिति का दुष्प्रभाव अपने अध्ययन के दिनों में हमें भी झेलना पड़ा।

अब इस अधेड़ उम्र में पिता-जी से ज्यादा काम भी नहीं हो पाता था। अगर वे चाहते तो हम पांच भाइयों में से किसी एक को जूते बनाना सिखाकर अपने साथ काम में लगा सकते थे। लेकिन उनका अपने बच्चों के भविष्य को गढ़ने का जज्बा भी क्या कमाल का था! हमेशा कहते थे: "सभी बच्चों को पढ़ाऊंगा।" मुझे अच्छी तरह याद है, एक बार बचपन में मैंने पिता-जी के पास जाकर कहा थाः "काका, मुझे भी जूतियां बनाना सिखा दो।" मेरी वह बात सुनकर पिता-जी मुझ पर काफी नाराज हुए थे। मुझे डांटते हुए उन्होंने कहा था, "क्या तू यह काम करेगा? पागल, तुझे पढ़-लिख कर साहब बनना है। यह काम तो हमारे खानदान में आखिरी

बार बस हम ही कर लेंगें।" अपने जीवन में विद्यमान अभावों और बढ़ती गुरबत के बावजूद वे हम सब को 'साहब' बनाने का सपना जिन्दा रखे हुए थे। ऐसे स्वप्नदर्शी एवं दूरदर्शी थे मेरे पिता-जी! आज उनकी वे बातें याद आती हैं तो आंखें डबडबा जाती हैं।

मैं भगवान को नहीं मानता। लेकिन यह जरूर मानता हूँ कि हमारे माँ-बाप ही हमारे भगवान होते हैं। मेरे पिता (और मां भी) को मैंने एक नहीं, अनेक बार सचमुच हमारे लिए साक्षात भगवान के रूप में ही पाया है। हमारी जिन्दगी बनाने और इसे बचाने के लिए वे किसी भी हद तक चले जाते थे। कुछ नहीं था उनके पास, फिर भी हमें सब कुछ दे गए, न केवल मात्र यह जीवन, अपितु एक शानदार, खुशियों एवं सम्पन्नता भरा राजसी जीवन! खुद आजीवन भले ही वे दुश्वारियों एवं विपत्तियों से जूझते रहे, लेकिन जब तक जीवित रहे यथासम्भव उनकी आंच हम पर नहीं आने दी।

लेखक - एस. के चहल, प्रोफेसर, इतिहास विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
संपर्क - 94660-34624





वक्तव्य

हरियाणा का सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य

□ टी. आर. कुण्डू

दिनांक 4 जुलाई 2021 को डॉ. ओमप्रकाश ग्रेवाल स्मृति व्याख्यान का आयोजन हुआ। 'हरियाणा का सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य' विषय पर व्याख्यान दिया प्रसिद्ध सामाजिक चिंतक व शिक्षाविद् प्रो. टी.आर. कुंडू ने। व्याख्यान का संचालन डॉ. रविन्द्र गासो ने किया और अध्यक्षता विनोद भूषण अबरोल ने की। प्रस्तुत है व्याख्यान का संपादित अंश जिसे लिपिबद्ध किया है अरुण कैहरबा ने - सं.

हरियाणा दो-तीन दशकों में आर्थिक, तकनीकी व विविध क्षेत्रों में बहुत तेजी से बदला है। लेकिन उसकी सांस्कृतिक-सामाजिक पहचान बहुत धुंधली है। समाज मूल रूप से एक नैतिक इकाई है, जो सामूहिकता में बसती है। उसकी सामूहिक चेतना होती है। उसका एक सामूहिक मिजाज होता है। यह एक सुपर ओरगेनिक कृति है। हर समाज का एक विशिष्ट ढ़ांचा होता है। उसमें अनेक समूह होते हैं, जिनके अपने-अपने हित होते हैं और उन्हें पूरा करने के लिए अपना-अपना सामर्थ्य होता है, पावर होती है। पावर के कई स्रोत हैं। धन, सामाजिक-राजनैतिक हैसियत, ज्ञान एवं कौशल, परिस्थिति के अनुसार व्यवहार करने के कौशल आदि शक्ति के स्रोत हैं। जिसके पास सबसे अधिक शक्ति होती है, वह रूलिंग इलीट कहलाता है। बाकी जनता कहलाती है।

हर समाज का आधार उसकी संस्कृति होती है। संस्कृति के बारे में टैगोर ने कहा था- 'संस्कृति खूबसूरत व्यवहार है।' खूबसूरती हर समाज

की अलग होती है। हर समाज में खूबसूरती की अवधारणा भी अलग हो सकती है। खूबसूरत व्यवहार के बारे में कोई भी आचरण, जो आपके आत्मसम्मान में वृद्धि करे, वह खूबसूरत नैतिकता है। लेकिन वह आचरण जो दूसरे के आत्मसम्मान में वृद्धि करे, वह खूबसूरत मैनर है।

हर संस्कृति के कुछ आधारभूत मूल्य होते हैं, जिन्हें हम अहमियत देते हैं। जो हमारे खालीपन को भरते हैं, जो हमें प्रेरित करते हैं। ऐसे मूल्य जो हमारे आदर्श होते हैं, उन्हें हम अपने संविधान में भी शामिल करते हैं। जैसे बंधुता, मानवता, स्वतंत्रता, समानता, वैज्ञानिक सोच आदि हमारे संवैधानिक मूल्य हैं। कुछ व्यवहार के नियम होते हैं और कुछ मानक होते हैं। जैसे अभिव्यक्ति की आजादी हमारा मूल्य है और इस आजादी की हमें रक्षा करनी चाहिए, यह मानक है। जिन मानकों को हम अत्यधिक महत्व देते हैं, उन्हें हम मूल्य व्यवस्था का हिस्सा बना लेते हैं। बाकी हमारी परंपराएं, रीति-रिवाज हैं, जिन्हें समाज की लोक लाज के लिए अपनाते हैं।

टीएस इलियट के अनुसार संस्कृति और कुछ नहीं है, मूल्य हैं। संस्कृति हमारे जीवन को अर्थ देती है। मोटे तौर पर संस्कृति को दो भागों में बांट सकते हैं - एक भौतिक संस्कृति, जो हमारे खान-पान में झलकती है। दूसरी, बौद्धिक संस्कृति, जिसे आध्यात्मिक संस्कृति भी कहा जा सकता है। हमारा काव्य, साहित्य, विचार-विमर्श बौद्धिक संस्कृति का हिस्सा हैं।

भौगोलिक स्थिति संस्कृति के निर्माण में योगदान करती है। संस्कृति एक सीखा हुआ व्यवहार है, जिसे हम सीखते रहते हैं। संस्कृति एक सुंदर ओरगेनिक संस्कृति है। जब हम ऊपर उठ कर जीने की कोशिश करते हैं, वही संस्कृति है। यह बात सत्य है, भौगोलिक स्थिति हमारी भौतिक संस्कृति को प्रभावित करती है। भौतिक संस्कृति की बात करें तो हमारे यहां पर कितना कुछ बदला है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक स्थिति भी संस्कृति को प्रभावित करती है।

आज हम वैश्विक युग में रह रहे हैं। एक संस्कृति का दूसरी संस्कृति पर प्रभाव पड़ता है। रूलिंग इलीट भी बदलता रहता है। एक विद्वान ने कहा है इतिहास रूलिंग इलीट का कब्रिस्तान है। सत्ताधारी संभ्रांत वर्ग कभी अपनी ताकत के बल पर आगे आ जाता है और कभी अपनी छल-कपट की रणनीति से भी सत्ता में आता है। रूलिंग इलीट के खिलाफ कई बार सामाजिक असंतोष व आक्रोश बढ़ जाता है तो क्रांतियां होती हैं। सांस्कृतिक मंच बताता है कि क्या होना चाहिए। वहीं, सामाजिक मंच ताकत का मंच भी हो सकता है, जहां पर तरह-तरह की टकराहटें हो सकती हैं। रूलिंग इलीट मूल्यों को अपने हिसाब से बदलने की कोशिश करता है ताकि उन्हें बिना विरोध के स्वीकार किया जा सके।

इसे कैसे आंकें कि जो बदलाव हुआ है, वह कैसे हुआ है। किसके हक में है। अच्छे के हक में हुआ या बुरे के लिये। संवैधानिक मूल्य इसमें भूमिका निभाते हैं। क्या हम समानता, मानवता, वैज्ञानिक सोच आदि के आधार प्रगति कर पाए, यह हमारा महत्वपूर्ण मापदंड है। दूसरा मापदंड है कि हम कितने मानवीय बने हैं। क्या हमारी संवेदनाएं अपने तक ही सीमित रही या उनका दायरा बढ़ा। समाज में क्या अपराध बढ़ा है या घटा है। अपराध बीमार समाज का प्रतीक है। हमने उसे कैसे डील किया ?

सामाजिक समूह में इसकी गतिशीलता क्या है? क्या कोई एक समूह से दूसरे समूह में जा सकता है। उसकी समूह सदस्यता क्या है? हमारे नागरिकों की समूहों में हिस्सेदारी जितनी अधिक होगी, उससे सांस्कृतिक विकास उतना अधिक होगा।

हम जब एक दूसरे से मिलते हैं तो एक दूसरे से अपना आचरण सांझा करते हैं। अपनी संस्कृति व व्यक्तित्व भी सांझा करते हैं। हम एक दूसरे का हिस्सा बन जाते हैं। यह संवाद केवल आमने-सामने ही नहीं होता, आज के दौर में यह ऑनलाइन भी हो सकता है। साहित्य के द्वारा भी हम संवाद करते हैं। एक साहित्यकार अपने साहित्य के जरिये अपनी

संस्कृति सांझा करता है। विचार-विमर्श और समूहों में हिस्सेदारी हमारी संस्कृति का अंग है।

संस्कृति सबसे धीमी गति से परिवर्तित होती है। हरियाणा की संस्कृति को इसकी राज्य के रूप में स्थापना के वर्ष 1966 से लेते हैं। संस्कृति को समझने के तीन तरीके हैं - मूल रूप से संस्कृति साहित्य का विषय है। समाजशास्त्री संस्कृति को अलग तरह से समझता है। समाजशास्त्री लिप्त नहीं होता। वह अपने इमोशन को नियंत्रित करके देखता है। साहित्यकार की संवेदनाएं बहुत गहरी होती हैं। जो संवेदनाएं हम पकड़ नहीं पाते, उसे साहित्यकार पकड़ता है। वह अपने साहित्य के द्वारा संवेदनाओं का विस्तार करता है। साहित्य में साहित्यकार की कल्पनाएं और दर्शन भी होता है। तीसरा, जिस देश व संस्कृति का हम अध्ययन कर रहे हैं, उसके बारे में लोक क्या कह रहा है। लोक साहित्य क्या कह रहे हैं।दुर्भाग्य से हरियाणा के बारे में कम लिखा गया है, लेकिन इसके बावजूद लिखा गया है। यदि हम हरियाणा के बारे में लिखे गए साहित्य का अध्ययन करें तो हमें बहुत-सी चीजें समझ आएंगी।

समाजशास्त्री के नाते मैं कैसे हरियाणा को देखता हूँ। जब हरियाणा बना तब 82 प्रतिशत लोग गांवों में रहते थे और 18 प्रतिशत शहरों में रहते थे। जो अपने हाथों से काम नहीं करते थे, वे शहरों में रहते थे और जो हाथ से काम करते थे वे गांवों में रहते थे। हाथ से काम नहीं करने वाले जैंटलमैन कहलाते थे। यह माना जाता है कि जैंटलमेन केवल पढ़ते-लिखते हैं। वे हाथ से बहुत कम काम करते हैं। जब करते हैं तो कईं बार विनाश करते हैं।

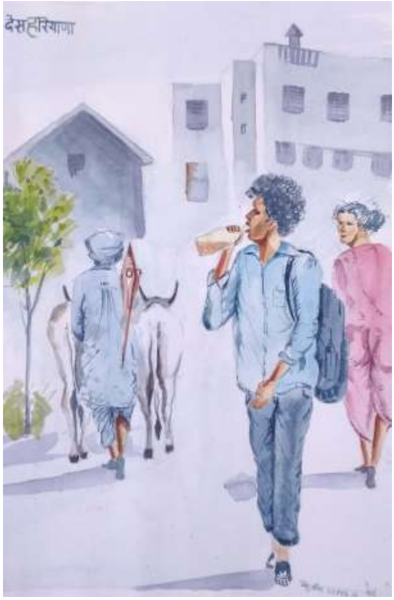


पुराने दौर की बात करें तो हरियाणा में

सब्र का फल मीठा माना जाता था। जिन आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकते थे, उस पर अंकुश लगाते थे। चादर में ही पैर रखने की बात की जाती थी। संगीत-घड़वे, तुंबे, बीन, बांसुरी आदि भी कम संसाधनों में अधिक काम लेने के प्रतीक हैं। हरियाणा में किसान, बैल, गड्डे और हल होते थे। किसान की खेती बैलों के बिना नहीं होती थी। बैल गाय से आते थे। गाय पालते थे तो दूध-दही मिलता था, यही हमारे खाने का मूल स्रोत था। आर्य समाज से प्रभावित थी हरियाणा की संस्कृति। आडंबरों से मुक्त था हरियाणा का समाज। आत्मा, परमात्मा, करणी-भरणी आदि केन्द्र में थे।

हरियाणा कैसे सोचता था। कहावतों के नजरिये से देखें तो -'काम प्यारा है चाम प्यारा नहीं है।' काम सर्वोत्तम था। श्रम को महत्व मिलता था। 'सब्र का धन सबसे बड़ा धन' - अभाव की संस्कृति से डील करने का सुंदर उदाहरण है यह कहावत। हमारी आकांक्षाओं व बेसब्री पर हम अंकुश लगाते थे और संतोष को सबसे बड़ा धन बताते थे। 'करके खा लिया, ले कर दे दिया' मुफ्तखोरे नहीं है। मांगना धिक्कार है। मुफ्त का घी पीने वाले नहीं हैं हम। अगर कोई साहूकार का कर्जा नहीं चुकाता है तो साहूकार उसके अंदर से पीपल बनकर उगेगा, यह माना जाता था। 'पहले मारा सो जीतै' हरियाणा का आदमी दब कर नहीं खेलता है। 'दाबा करै खराबा' दबाव नहीं मानते। हरियाणा का बंदा साहसी, वीर होता है। हरियाणा की संस्कृति को समझने के लिए हमारे मुहावरे, लोकगीत को खंगालने की जरूरत है।

हरियाणा का जन्म हरित क्रांति में हुआ। 1970 के दशक में हरियाणा में ढ़ांचागत विकास हुआ। गांव-गांव में बिजली पहुंचाई। 80 का दशक आते-आते हमारी रसोई व ड्राईंग रूम में परिवर्तन होने लगता है। 1990 के बाद स्थिति बिल्कुल बदल जाती है। अर्थव्यवस्था को खोल देते हैं। आयात-निर्यात होने लगता है। सरकार अपनी भूमिका कम करने लगती है। निजी क्षेत्र की भूमिका बढने लगती है। पूंजीपति हितैषी सोच



को बढ़ावा देती है सरकार। आज का विकास जीडीपी ग्रोथ केन्द्रित हो गया है। जीडीपी ग्रोथ का स्वभाव है कि असमानताएं बढ़ेंगी तो यह बढ़ेगी। इससे पहले विकास का मतलब होता था असमानताएं कम करना। हमारे नीति-नियंताओं ने उपभोक्ता संस्कृति के लिए मैदान तैयार किया। हरियाणा उपभोक्ता संस्कृति के लिए मुख्य भूमि बनती है। यहां की मिडल व अपर क्लास का तेजी से विकास होता है। संस्कृति के नाम पर मैदान बिल्कुल खाली है। पुरानी संस्कृति आउटडेटिड हो गई है। जब उपभोक्ता संस्कृति का विकास किया जा रहा था, तब कुछ नए मूल्य ईजाद किए जाने चाहिएं थे। शहरीकरण हुआ। नई क्लास का उभार हुआ। इस तरह से हरियाणा उपभोक्तावाद का शिकार होता है।

हरियाणा के वर्तमान परिदृश्य डॉ. रणबीर सिंह दहिया ने कहा हरियाणा तीन ढ़ाल का - एक पीछे रह गया हरियाणा, एक आगे बढ़ता हरियाणा और एक मस्त हरियाणा। अंदर से खालीपन को भरने के लिए दिखावा किया जा रहा है। अपराधबोध से ग्रस्त हैं। मंदिर में अपराधी की तरह जाते हैं। अपराध भावना से बचने के लिए जगराते करवाते हैं, दान करते हैं। मूलरूप से सरकार के साथ सांठगांठ करते हैं, ठेके लेते हैं। पीपीपी के नाम पर सरकार अपने लोगों को ठेके देती है। सरकार के अपराध में भागीदार है। अवैध कॉलोनियां, अवैध खनन, कानून को अपने पक्ष में करने की कोशिश करता है। तीन कृषि कानून भी एक वर्ग

ने सरकार से अपने हितों के लिए बनवा लिए हैं। बेलगाम हरियाणा समाज से कटा हुआ है और सरकार से मिला हुआ है

आगे बढ़ता हरियाणा शहरी क्षेत्र में है। हरियाणा में शहरीकरण बहुत तेज गति से हुआ है। पूरे देश में यह मिसाल बना है शहरीकरण की। पहले की तुलना में शहरी हरियाणा ज्यादा विवेकशील है। मस्त हरियाणा को मैं लाचार हरियाणा कहता हूँ। 1991 में आर्थिक सुधार में खेती शामिल नहीं थी। न्यूनतम समर्थन मूल्य को मानने के लिए कोई तैयार नहीं है। स्वामीनाथन आयोग की रिपोर्ट को लागू करने के लिए भी कोई तैयार नहीं है। कृषि क्षेत्र के साथ सौतेला व्यवहार किया गया। ग्रामीण क्षेत्र के मंझोले व बड़े किसान शहरों में आ गए। छोटे किसान गांव में रह गए। कृषक समाज एक तनाव की स्थिति से गुजर रहा है। इसलिए मैं इसे लाचार हरियाणा कहता हूँ।

इसके साथ ही एक उड़ता हरियाणा भी है। चिट्टा व मोबाइल का नशा युवाओं पर तारी है। आज मां-बाप के पास कोई समय नहीं है। पहले जैसे बच्चों को सुलाने के लिए अफीम देते थे, आज मोबाइल बच्चों के हाथ में दे दिए गए हैं। मोबाइल व ऑनलाइन माध्यमों के जरिये संवाद स्थायी संवाद नहीं है। युवा वर्ग अपनी भाषा भी खो चुका है। जिसके पास कुछ नहीं है, वह नशा कर लेता है।

संवैधानिक मूल्य पीछे धकेल दिए गए हैं। 1990 से पूर्व समानता पर जोर था। आज समानता जैसे संवैधानिक मूल्य हाशिये पर ढकेल दिए गए हैं। स्वतंत्रता के बाद के हमारे नेताओं ने जाति को कम करके आंका। नेहरू मानते थे कि जैसे -जैसे आर्थिक विकास होगा, उद्योग-धंधे बढ़ेंगे, परिवहन के साधन बढ़ेंगे, आपस में मिलकर कार्य करने की संस्कृति के जरिये जाति घिस-घिस कर खत्म हो जाएगी। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। जाति बलवान होती चली गई। राजनीति का एक हथियार बन गई। राजनीति का जातिकरण हुआ। जाति का राजनीतिकरण हुआ। जाति और साम्प्रदायिकता ने मिलकर सोच को बुरे तरह से प्रभावित किया है।

हरियाणा में 36 बिरादरी मानी जाती हैं। जाति ने मानवता व लोकतंत्र को पीछे खिसका दिया है। लोकतंत्र का सार इस बात पर निर्भर करती है कि अपने प्रतिनिधियों का चुनाव कैसे करें और उन पर नियंत्रण कैसे करें। ना तो हमारा प्रतिनिधियों को चुनने में हाथ रह गया है और ना ही उसे नियंत्रित करने में। जाति-सम्प्रदाय बड़े कारक बन गए हैं। डॉ. भीमराव अंबेडकर का यह विचार था कि लोकतंत्र से समानता आ जाएगी। आरक्षण भी वंचित समुदायों को सशक्त बनेगा, जिससे बंधुत्व आ जाएगा। संवैधानिक मूल्यों की सारी जिम्मेदारी राजनीति पर छोड़ दी गई। और कोई प्रयास ही नहीं किया गया। जाति दीवार बन कर खड़ी हो गई। जाति से टकराने में हमारा लोकतंत्र फेल हुआ है। ऐसे ही सांस्कृतिक स्वतंत्रता के मामले में भी हम पीछे रह गए। जाति बहुत से लोगों के स्टेटस व आत्मविश्वास को कम कर देता है।

महिलाओं के साथ भी ऐसा ही हुआ है। एक समूह से दूसरे समूह में जाने के मामले में भी हम पीछे रहे हैं। वैज्ञानिक सोच के साथ भी यही हुआ है। यह सोच भी गलत साबित हुई कि शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ विवेकशील सोच व तार्किकता बढ़ेगी, लेकिन ऐसा नहीं हुआ। मानवीय मूल्य और संवेदनाएं क्या हमारी अपनों तक ही सीमित रह गई हैं। क्या दूसरों की वेदनाओं की गूंज भी हममें है। हरियाणा में अपराध बहुत बढ़ा है। महिलाओं के लिए यह सबसे असुरक्षित स्थान साबित हुआ है।

दुलीना, मिर्चपुर कांड आदि जैसी घटनाएं दलितों पर अत्याचार की क्रूरतम घटनाएं हैं। हम अपने समाज को मानवीय चेहरा नहीं दे पाए। हमारा महानिर्वाण जाति के विनाश में है। ऐसे में जरूरी है कि सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव व नवजागरण के लिए मिलजुल कर प्रयास किए जाएं। स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व के मूल्यों को साकार करने के लिए विचार-विमर्श की प्रक्रिया को तेज किया जाए।

लेखक - प्रोफेसर टी. आर. कुण्डू, पूर्व अधिष्ठाता, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
संपर्कः 9896757009



कहानी

अन्दर का विचार

□ महेंद्र सिंह

अर्धांगिनी का मन्दिर के लिए निकलना और मेरे पेट में चूहे कूदने में कोई मेल नहीं है। ये इत्तफाकन हो गया। एक तो मन्दिर में भीड़ बहुत रहती है। दूसरा, मन्दिर में देवी-देवता काफ़ी हैं। तीसरा, वो किसी देवी - देवता को नाराज़ नहीं करना चाहती इसलिए सभी को अपना मांग-पत्र प्रस्तुत करती है। अतः मुझे इसमें कोई शक नहीं था कि वो काफ़ी देर से आएंगी। इतनी देर तक पेट में चूहों की उछल-कूद बरदाश्त करना अपने बस की बात है नहीं। ऐसी संकट की घड़ी में एक मात्र उपाय नज़र आया- जनता टिफीन वाला। फोन मिलाने के चन्द मिनटों में ही टिफीन सामने था।

सोचने में मैं हमेशा लेट-लतीफ रहा हूँ। टिफिन वाले के जाने के बाद अन्दर से विचार आया कि कहीं डिलीवरी ब्वॉय मुसलमान तो नहीं। खीज इस बात की थी कि भेजे में ये विचार पहले क्यों नहीं आया? खैर, अब तो एक ही उपाय था - फोन।

'हैलो ' उधर से आवाज़ आई।

'जी, ये डिलीवरी ब्वॉय का नाम क्या है?' मैने पूछा

'क्यों...? क्या हुआ...? कोई बात हुई क्या...?' बोलने वाले की आवाज़ में घबराहट थी।

'बस , मुझे उसका नाम बता दीजिए।'

'जी....उसका नाम पुरूषोतम है। क्या बात हुई... बताइए तो।'

'कुछ नहीं...' मैंने फोन काट दिया। अपनी चालाकी पर मैंने अपनी पीठ थपथपाई।

टिफिन खोला। एक खाने में रोटी, रोटियों के साथ अचार, एक में दाल। एक कोर तोड़ा ही था कि अन्दर से विचार आया। बेशक, डिलीवरी ब्वॉय मुसलमान न हो, पर होटल पर काम करने वालों में भी तो कोई मुसलमान हो सकता है।

कोर हाथ से छूट गया।

फिर फोन मिलाया।

'आपके होटल में कोई मुसलमान है क्या? 'सीधा सवाल सुन कर सुनने वाले को झटका लगा। तभी तो उससे जवाब देते नहीं बना। मेरे दोबारा पूछने पर वह बोला - 'जी नहीं, मेरे यहाँ कोई मुसलमान काम नहीं करता। लेकिन बात क्या है...?'

'कुछ नहीं। 'कहकर मैंने फिर फोन काट दिया। विजयी भाव मेरे चेहरे पर स्पष्ट देखे जा सकते थे।

झट से एक कोर खा गया।

दूसरा कोर मुँह में लिया ही था कि नया विचार आ गया- 'ये अनाज खेतों से चलकर मंडी होते हुए होटल तक पहुँचा है। किसी ने बोया, किसी ने काटा, किसी ने लादा, किसी ने उतारा, कोई मसाला पीसने वाला, कोई पानी सप्लाई वाला, टिफिन बनाने वाला, कितने आदमी शामिल रहें हैं इस प्रक्रिया में। बड़ी संख्या में मुसलमान मज़दूरी करते है। ये हो नहीं सकता कि इतनी लम्बी प्रक्रिया में कोई मुसलमान शामिल न हो।

उबकाई आ गई।

मुँह में लिया कोर गिर गया।

बैठे रहना मुश्किल हो गया। खड़ा हो गया। क्या करूँ?

अब तो रोटी न खाई जाएगी। मुँह धोया, कुल्ला किया। कुछ देर पहले जो चूहे पेट में उछल कूद मचा रहे थे उनका घर की चार दीवारी के

अन्दर नामो -निशान न था। रोटियों का क्या करूँ? कमरे में चैन नहीं पड़ा तो आंगन में चला गया। दरवाजे पर गाय खड़ी थी। यह गाय हर घर से रोटी मांगती थी। हांलाकि रोटी खिलाने वाला बाद में इसे डंडा भी मारता है कि कहीं हमारे घर के सामने गोबर न कर दे। खैर, अब इसका यहाँ आना बहुत सुकून दे रहा था। ऊपर वाले ने इस वक्त इसे यहाँ भेजकर मेरी बहुत बड़ी समस्या का समाधान कर दिया था। मैने टिफिन से रोटियाँ उठाईं और गाय के मुँह में ठूंस दी। थोड़ी राहत महसूस हुई। दरवाजा बन्द करके कमरे में आया तो अंतरात्मा फिर बोल पड़ी - 'कैसे पूत हो तुम? गाय को माता कहते हो और उसे ऐसी रोटी खिलाते हो, जिसे मुसलमान के हाथ लगे हों।' जी ग्लानि से भर गया। ऐसी विधर्मी रोटी खाकर गाय को कुछ हो गया तो। इस पाप को कैसे उतारूंगा? भाग कर गाय को देखने बाहर गया। गाय खड़ी-खड़ी बड़े आनन्द से जुगाली कर रही थी। मुझे खुद की बेवकूफ़ी पर बड़ी शर्म आई। ये जानवर है। जानवरों को भला इतना ज्ञान कहाँ होता है?

ये विचार मेरी बेचैनी को खत्म करने को काफ़ी नहीं था। हालत लगातार बिगड़ती जा रही थी। गुस्से का केन्द्र अर्धांगिनी बनी थी। आप देवताओं को मनाने में लगी है और आधा अंग यहाँ तड़प रहा है। बात करने के लिए फोन उठाया तो अन्दर से आवाज़ आई - 'इस फोन को किसने बनाया, किसने इसके सॉफ्टवेयर तैयार किए। किस-किस के हाथों से गुजरा। 'इसमें तो जरूर कोई न कोई मुसलमान शामिल रहा होगा। फोन को दीवार पर मारने ही वाला था कि दो-दो हज़ार के पाँच नोट आँखों के सामने लहरा गए जो इसके बदले मे दुकानदार को दिए थे। फोन जेब में चला गया। पानी खतरे के निशान तक पहुँच गया।

'प्रकृति की ओर चलो 'ये कालेज में पढ़ाने वाले एक गुरूजन का रामबाण नुस्खा था। आप उन्हें कोई प्रॉब्लम बताओ, मानसिक या शारीरिक, उनका एक ही जवाब होता प्रकृति की शरण में जाओ।' बाहर जाने का मन किया। दरवाजा बन्द करने को ताला हाथ में उठाया ही था कि सामान्य ज्ञान उभर आया - 'ताले तो अलीगढ़ में बनते हैं। ज्यादातर

मुसलमान ही काम करते हैं उन फैक्ट्रियों में। 'ताला फेंककर मारा तो गमले पर लगा। गमला टूट गया। अब अर्धांगिनी का प्रकोप भी सहना पड़ेगा। उसको पर्यावरण से इतना प्रेम था कि पौधों का कोई पत्ता नहीं गिरना चाहिए, बेशक किसी की साँस निकल जाए। मैं निकल लिया खेतों की ओर। लगभग दौड़ता हुआ सा खेतों में पहुंच गया। पेड़ों से घिरा - तालाब, विशालकाय बड़ का पेड़। ये दादा के दादा से भी पहले का है। ऐसा मेरे दादा ने बताया था। वो मेरे सड़दादा, तड़दादा जो भी वे हुए, बेवकूफी उन्होंने की, अफसोस मुझे करना पड़ रहा है। पेड़ लगाने में खामखाँ अपनी ऊर्जा व्यर्थ की। बिजनेस करते तो हम भी सेठ हो गए होते। पेड़ तो कोई और भी लगा लेता। मोटी-मोटी जड़ें जमीन से ऊपर उभरी हुई थीं। उन्हीं में से एक पर बैठ गया। किसने लगाया होगा ये। लगाने वाला मुसलमान भी तो हो सकता है। मैं सिर पर पैर रखकर भागा। रात को कुछ बारिश हुई थी। उत्तर-पश्चिम की तरफ से बड़ी सुहावनी हवा आ रही थी। लंबी-लंबी सांसें ली। कुछ राहत मिली। सच में प्रकृति में दम होता है। इस हवा को कोई सीमा नहीं रोक पाती। ऐसे ही सारी धरती के चक्कर लगाती रहती है। आज तो हवा पाकिस्तान की तरफ से आ रही है। तभी विचार आया-मुसलमान भी इसी हवा में सांस लेते हैं। उनके मुँह से निकली गैस भी इसी हवा में है, जिसमें मैं सांस ले रहा हूँ। उफ! आँखों के सामने अन्धेरा छा गया। ना कुछ दिखाई दे रहा था, न सुनाई दे रहा था। बस, मैं भाग रहा था। मुझे महसूस हुआ कि शरीर लुढ़क रहा है।

जब मामूली चेतना लौटी तो अर्धांगिनी बोली -'आप इतने घबराए हुए क्यों हैं? ऊपर वाला सब ठीक कर देगा।'

'ये मनुष्य निर्मित समस्या है, इसमें ऊपर वाला कुछ नहीं कर पाएगा। 'मैंने कहा। पर, शब्द मुँह में ही अटके रह गए। किसी ने सुने नहीं।

लेखक - महेंद्र सिंह, 524, सैक्टर-13, हुडा भिवानी, संपर्क - 9466818345



स्नेहलता की कविताएं

लीक से हटी औरतें

1.
लीक से हटी औरतें
खुद लीक बन गई
लीक बनने से पहले
वे करती रही बाहरी बवंडरों को शांत
सुनी नहीं कभी मन के आंधी ओ' तूफान की आवाज़
आज पहली बार सुना उसने
अपने अंदर के तूफान ओ' आंधी को
जो काली-पीली हो करके चमकती बिजलियों के साथ
भारी पड़ गई थी बाहर के तूफान पर

2.
लीक से हटी औरतों ने
पंख फैलाए
उनमें हवा भरी
और एक चिड़िया की तरह
फुर्र हो गई

3.
लीक से हटी औरतें
फुसफुसाती रही सदियों तक
अपनी पीड़ा को अपने ही कान में

पीड़ा में भी मुस्कुराती रही
उस फुसफुसाहट को आज झटक दिया उसने
ठहाके लगाकर
और शांत कर दिया फुसफुसाहटों को

4.
जब-जब लीक से हटी औरतें
तो समवेत स्वर सदा कानों में पड़ते रहे
कि 'अधिक दूर तक नहीं जाएगी'
उसने पहुंचकर मंजिल तक
आश्चर्यों को फैला दिया कायनात में

5.
लीक से हटी औरतों
अब सजती नहीं औरों के लिए
अब सीख लिया है उन्होंने
स्वयं से प्रेम करना
और स्वयं के लिए सजना

6.
लीक से हटी औरतों के
घायल पांवों को मजबूती देने
आ ही जाएंगी
उनके जैसी लीक से हटी औरतें
फिर से एक नई लीक बनाने को

लेखिका हरियाणा में हिंदी की प्राध्यापिका हैं। संपर्क : 9416584018



मुकेश कुमार की कविताएं

आग

जिंदा रहने के लिए
आग जरूरी है !

जिसे हम आदिमानव कहते हैं
उनकी ही खोजी हुईं वस्तु है आग

ऐतिहासिक साक्ष्य गवाह है
खुद को जीवित रखने के लिए अनेक आविष्कार हुए हैं
अचानक
वह आग ही है जिसकी कोई भाषा नहीं है,
वह जुलूस ही नहीं है
जो मुट्ठी बंद होकर हर सीने में धधकती है
वह भूख और रोटी का जनाजा है
जो हर रोज़ सड़कों पर लाशें रखती है

हमारे पूर्वजों की आविष्कृत आग
यूँ ही ढेर हो जाती
राख में
अगर भूख और रोटी का प्रश्न न होता !

यह लोगों को आग के साथ जोड़ने का समय है
जब भी चीख़ हो

तो सभी को मालूम रहे
आग अब भी जिंदा हैं !

आग का होना

घर के लिए औरत का होना उसी तरह जरूरी है
जैसे किसी धुआंते चूल्हे में
आग का होना !
कभी बेटी बनी वह
कभी पत्नी बनी
फिर माँ भी बनी अपने बेटों की,
औरत होने के कितने रिश्ते निभाने होते हैं एक साथ उसे !

कई बार उसे जानबूझकर संदिग्ध दृष्टि से देखा जाता है
जिस पर हमें ऐसा लगता है -
आज भी उसके लिए चूल्हा सुरक्षित जगह है,
जिसमें आग का होना आवश्यक है !

बचा रहना ही जिजीविषा है !

हम जब तक लड़ेंगे
तभी तक बचे रहेंगे

जिस दिन लड़ना बाकी रह जाएगा
उसी समय से बचा रहना मुश्किल हो जाएगा !

लेखक हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालयमें शोधार्थी हैं।
संपर्कः 8580715221, ईमेल : kumarm79587@gmail.com



एक बिल्कुल पर्सनल एस्से

☐ शमशेर बहादुर सिंह

महान कवि शमशेर बहादुर सिंह की आलोचना महत्वपूर्ण है। 'एक बिल्कुल पर्सनल एसे' में उन्होंने नागार्जुन, त्रिलोचन, अज्ञेय और मुक्तिबोध पर टिप्पणी की है, जो इन कवियों की रचनाधर्मिता को समझने में महत्वपूर्ण है। यहां प्रस्तुत है मुक्तिबोध की कविताओं के संबंध में की गई टिप्पणी - सं.

मुक्तिबोध गजानन माधव मुक्तिबोध वैज्ञानिक कथा-साहित्य बहुत पढ़ते हैं। निम्न मध्यवर्गीय कटु संघर्षों पर दीर्घकालीन चिंतन की ऊहापोह ने एक विचित्र भुतहे लोक से उनकी कल्पना को भर दिया है। ये कटु संघर्ष अपने ही जीवन और परिवार के रहे हैं। अतः कल्पना का यह भुतहा (fantastic) लोक अत्यधिक यथार्थ है, जैसा कि उनकी पंक्तियों के स्नायविक तनाव से स्पष्ट है।

यहाँ व्यंजनाएँ हैं गूढ़ सामाजिक विश्लेषण की। विश्लेषण है वर्ग संघर्ष के उस अंश या रूप का, जहां निम्न मध्यवर्ग जूझता है। उसको पस्त करने वाली रूढ़ियों और शोषक शक्तियों को मुक्तिबोध प्रतीकों के रूप में खड़ा करते हैं।

ये प्रतीक प्राचीन गाथाओं के टुकड़े जान पड़ते हैं। मगर इन टुकड़ों में संदर्भ आधुनिक होता है। यह आधुनिक यथार्थ कथा का भयानकतम अंश होता है।

ये भयानक अंश निम्न वर्गों का सार्वभीम शोषण है। यह है 'ब्रह्मराक्षस'। एक व्यापक विद्रूप जो व्यक्ति को आंतकित रखता है।

निम्नमध्यवर्ग का शिक्षित व्यक्ति अजब-सी सूली पर लटका रहता है और फिर भी जिंदा रहता है, नरक में जाने के लिए और अपने परिवार के साथ नरक ही भोगता है।

इसी वर्ग का, हार न मानने वाला, ब्रह्मराक्षस और नरक को विद्रूप से ललकारने वाला कवि है, यह है महाराष्ट्र परिवार की तगड़ी हिंदी प्रतिभा मुक्तिबोध।

मुक्तिबोध की लंबी कविताओं का पैटर्न विस्तृत होता है। एक विशाल म्योरल पेंटिंग आधुनिक प्रयोगवादी; अत्याधुनिक। जिसमें सब चीजें ठोस और स्थिर होती हैं; किसी बहुत ट्रेजिक संबंध के जाल में कसी हुई।

मुक्तिबोध के साथ मेरी समस्या होती है (अक्सर ही पाठकों की होती है; मैं भी एक साधारण ही पाठक हूँ) अव्वल तो पढ़ने की! (ईमानदारी की बात) रचना की दीर्घकाय विराटता हताश करती है। ए ग्रिम् रियलिटी; अंदर-बाहर सब ओर से। वस्तु और शिल्परूप और अंतरात्मा, रचना-प्रक्रिया और पाठक की प्राथमिक प्रतिक्रिया सबमें एक अजब ग्रिमनेस। मैं बचकर कहाँ जा सकता हूँ। घिर ही जाता हूँ फँस ही जाता हूँ। कॉलरिज के 'एन्शेंट मैरिनर' के 'मेहमान' की भाग्य-दशा तो याद होगी पाठकों को निस्तार नहीं, तभी मुक्ति है - मुक्तिबोध है।

दूसरी समस्या होती है समझने की होती थी...कहना चाहिए। क्योंकि पढ़ लेने, और अर्थ और भाव-व्यंजनाएँ हृदयगंम कर लेने के बाद कविता हृदय पर, चेतना पर हावी हो जाती है। आप मुक्तिबोध के चित्रों के पैटर्न समझ लेने के बाद उन्हें उम्र भर नहीं भूल सकते।

अगर किसी ने स्वयं मुक्तिबोध की जबानी उनकी कोई रचना सुनी हो, तो सारी कठिनाइयाँ आरंभ से ही हवा हो जाती हैं, और कविता

समाप्त होने पर ऐसा लगता है जैसे हम कोई आतंकित करने वाली फिल्म देखने के बाद एकाएक होश में आये हों।

मुक्तिबोध की कविता जो कथानक होती है, इसमें विद्रूप और क्रूर भाव रूपक को भरपूर नाटकीय बनाने के लिए आवश्यक होता है। चित्रों में जो खुरदरी स्पष्टता आँखों में चोट-सा करती है, वह पूरी कविता में, अपने विस्तार-क्रम के कारण, रूपक-भाव को कुछ बिखरा देती है। फिर भी कवि की बेपनाह नर्वस शक्ति का आभास पद-पद में मिलता है।

एक चट्टानी कड़ापन, एक खुर्री नग्नता, हिंस्र चाँदनी, अपशकुनों से भरा मानव-लोक, रात का या दिन का, जिंदगी जो विद्रूप और क्रूर व्यंग्य है।

मुक्तिबोध का वास्तविक मूल्यांकन अगली, यानी अब आगे की पीढ़ी निश्चय ही करेगी; क्योंकि उसकी करुण अनुभूतियों को, उसकी व्यर्थता और खोखलेपन को पूरी शक्ति के साथ मुक्तिबोध ने ही व्यक्त किया है। इस पीढ़ी के लिए शायद यही अपना खास महान कवि हो।

मुझे मुक्तिबोध एक पेंटर की चेतना से अच्छा लगता है। उसकी कविताएँ स्थिर चित्रों का एक आतंकित करने वाला grim संग्रहालय होती हैं।

हर वस्तु में भार है। छाया और प्रकाश भी ठोस और भारी हैं। हर वस्तु grim है।

मुक्तिबोध एक अजब मार्क्सवादी व्यंग्यरूपकार कवि है। चूंकि वह पेंटर और मूर्तिकार है। अपनी कविताओं में - और उसकी शैली बड़ी शक्तिशाली, कुछ यथार्थवादी मैक्सिकन भित्तिचित्रों की-सी है, वह मुझे प्रिय है।

वह एक-एक चित्र को मेहनत से तैयार करता है, और फिर उसके अंबार लगाता चलता है। एक तार-तम्य। जैसे किसी ट्रैजिक नाट्य मंच पर एक उभरती भीड़ का दृश्य - पूर्वनियोजित प्रभाव के साथ खड़ी।

मुक्तिबोध समाज के शोषक शत्रु को पेंट करते हैं। उसके अहं को, उसके बाह्य आतंक को - मगर जो खोखला है, और मात्र निर्जन का-सा आतंक है : मगर इसी आतंक से कवि का वर्ग-व्यक्ति पीड़ित शामिल है। मुक्तिबोध उसी पीड़ा और शाप को व्यक्त करते हैं, खुली आँखों उसे देखते, और क्रूर निर्मम शब्दों में उसे रूपाकार देते हैं। उनके यहाँ हास्य भी grim है, कठोर और भयावह।



शमशेर बहादुर सिंह हिन्दी कविता में एक अति विशिष्ट कवि। निरन्तर प्रयोगशील, प्रेम और सौन्दर्य के प्रगतिवादी कवि।

विचार आते हैं - मुक्तिबोध

विचार आते हैं
लिखते समय नहीं
बोझ ढोते वक़्त पीठ पर
सिर पर उठाते समय भार
परिश्रम करते समय
चांद उगता है व
पानी में झलमलाने लगता है
हृदय के पानी में

विचार आते हैं
लिखते समय नहीं
पत्थर ढोते वक़्त
पीठ पर उठाते वक़्त बोझ
साँप मारते समय पिछवाड़े
बच्चों की नेकर फचीटते वक़्त

पत्थर पहाड़ बन जाते हैं
नक्शे बनते हैं भौगोलिक
पीठ कच्छप बन जाती है
समय पृथ्वी बन जाता है...

मेरी कविताएं यथास्थितिवाद के विरुद्ध हैं – जयपाल



समाज के जटिल सवालों को आम बोलचाल की भाषा में अपनी कविताओं के माध्यम से उठाने में दक्ष चर्चित कवि जयपाल जी से पिछले दिनों एक बातचीत की गई। जयपाल जी की कविताएं पत्र-पत्रिकाओं निरतंर प्रकाशित होती हैं उनका एक कविता संग्रह 'दरवाजों के बाहर' प्रकाशित हो चुका है। उनके साहित्यिक सरोकारों और रचना प्रक्रिया से संबंधित बातचीत के कुछ अंश यहां प्रस्तुत हैं - सं.

डा. सुभाष – जयपाल जी क्या आपको घर–परिवार में कोई साहित्यिक माहौल मिला।

जयपाल - मेरा जन्म साधारण परिवार में हुआ। परिवार में कोई साहित्यिक माहौल नहीं था, बल्कि घर की हालात देखते हुए मुझे ताज्जुब होता है कि मैंने शिक्षा कैसे प्राप्त की और कैसे अध्यापक बन गया। स्कूली शिक्षा के दौरान पाठ्यक्रम में जो कहानिया-कविताएं पढ़ी, उससे प्रभावित हुआ।

डा. सुभाष – आप सक्रिय लेखन में कैसे आए ?

जयपाल - आसपास की विसंगतियों को देखकर लिखने लगा। कॉलेज पत्रिका में कहानी छपी उससे उत्साहित होकर दैनिक ट्रिब्यून में पत्र लिखने लगा। संपादक महोदय मेरे लंबे-लंबे पत्र विशेष कॉलम में छापते थे। कहानी लेखन महाविद्यालय अंबाला से मार्गदर्शन पाता रहा। अंबाला में शिक्षा प्राप्त कर, मैं कुरुक्षेत्र में अध्यापक हो गया। यहां डॉ. ओमप्रकाश ग्रेवाल के मार्गदर्शन में जनवादी लेखक संघ सक्रिय था। इसकी गोष्ठियां वाह-वाही तक सीमित नहीं थी बल्कि रचनाओं की

सिलसिलेवार समीक्षा की जाती थी, ज्यादातर गोष्ठियां समीक्षात्मक ही होती थी। अदबी संगम, कुरुक्षेत्र की गोष्ठियों में भी जाता रहा। आजकल देस हरियाणा पत्रिका से जुड़ा हूँ।

डा. सुभाष – सृजनात्मक लेखन पर आपकी राय?

जयपाल - मार्गदर्शन से अपनी रचनाओं को परखने की आलोचनात्मक दृष्टि प्राप्त होती है लेकिन सृजनात्मक लेखन आप के सरोकारों, जीवन के अनुभव, अध्ययन और परिश्रम से तय होता है। इसमें शॉर्टकट, चालाकी, होशियारी नहीं चलती। छपास, प्रसिद्धि, पैसा आदि की लालसा को त्यागना होता है। अखबारी लेखन और सृजनात्मक लेखन में यही मूलभूत अंतर होता है। ईमानदारी के बिना सृजनात्मक लेखन संभव नहीं।

डा. सुभाष– मार्क्सवाद की तरफ झुकाव कैसे हुआ ?

जयपाल - बचपन में सोचता था कि भूख, गरीबी, अत्याचार, गुलामी, जातिवाद, सांप्रदायिकता, शोषण आदि समाप्त होना चाहिए और मैं समझता था कि ईश्वर कभी तो ठीक करेगा ही। भगवान के घर में देर है, अंधेर नहीं। फिर मेरा झुकाव अवतारवाद, गांधीवाद, आत्मवाद आदि की तरफ हुआ लेकिन धीरे-धीरे पता चला कि यह सारी बातें हवाई बातें हैं। इनसे समाज में व्यापक फेरबदल संभव नहीं। धीरे-धीरे इन सब से विश्वास उठ गया। उच्च शिक्षा के साथ-साथ तर्कशीलता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित होता गया जो मार्क्सवाद पर जाकर पूरा हुआ। दुनिया के विकास को द्वंद्वात्मक दृष्टि से जाना। भगतसिंह, मार्क्स, लेनिन, ट्रॉटस्की के विचार पढ़े। हिंदी और पंजाबी में मार्क्सवादी नजरिए से भरपूर साहित्य लिखा गया। हिंदी और पंजाबी के सभी बड़े साहित्यकार आम आदमी के पक्षधर हैं और मार्क्सवाद को दुनिया का सबसे बड़ा वैज्ञानिक चिंतन मानते हैं।

डा. सुभाष – हिंदी साहित्य में कौन-कौन से लेखक प्रिय हैं?

जयपाल - स्कूली शिक्षा के दौरान सुभद्रा कुमारी चौहान, माखनलाल चतुर्वेदी, मैथिलीशरण गुप्त, रामधारी सिंह दिनकर, प्रेमचंद, गोपालदास

नीरज आदि को पढ़ा। कॉलेज में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, अवतार सिंह पाश, हरिवंश राय बच्चन, अज्ञेय, निराला, महादेवी वर्मा, रघुवीर सहाय, धूमिल, यशपाल, जगदीश चंद्र, गुरदयाल सिंह, सुरजीत पातर आदि कितने ही लेखकों का साहित्य पढ़ा। दलित साहित्यकार और वर्तमान में साहित्य साधना में लगे रचनाकार प्रभावित करते ही हैं। सबका या किसी एक का नाम लेना संभव नहीं है।

डा. सुभाष - दलित जीवन पर आप की कुछ कविताएं बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। दलित साहित्य, दलित जीवन और दलित सवाल के बारे में क्या कहना है?

जयपाल - मैं दलित जीवन से सीधे तौर पर जुड़ा हुआ नहीं रहा, लेकिन स्नातक शिक्षा तक मैं गांव में ही रहा। हरियाणा व पंजाब में लगभग हर गांव में दलित मोहल्ले हैं। जिन्हें अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। मध्यकालीन और सामंती अवशेषों को स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। वह बहुत दयनीय स्थिति में तो जीते ही हैं, उनके साथ अन्य समाज का दृष्टिकोण बहुत अमानवीय है। ऐसी स्थितियां सहन नहीं की जा सकती और न किसी ईश्वर पर छोड़ी जा सकती है। इसी रूप में यह मेरी कविताओं में आती है। यथास्थिति को तोड़ना कविताओं का उद्देश्य रहता है। जिस कारण मेरी कविताएं व्यंग्यात्मक और विद्रोही रहती हैं व्यंग्य और विद्रोह इन कविताओं का मुख्य स्वर है।

डा. सुभाष- आप के साहित्य के सरोकारों के बारे में ...

जयपाल -सामाजिक परिवर्तन की धार को तेज करने और यथास्थिति को तोड़ने में कविताओं का इस्तेमाल हथियार के तौर पर करना मेरा मुख्य सरोकार है। साहित्य की जितनी भूमिका इसमें हो सकती है उतनी निभाना चाहता हूँ। सामाजिक बदलाव में साहित्य की भूमिका एक प्रमुख सहयोगी की रहती है। बाकी राजनैतिक बदलाव समाज को निर्देशित करते हैं ।

डा. सुभाष - आपकी कविताओं में व्यंग्य तीखा रहता है और दो दुनिया मौजूद रहती हैं ?

जयपाल - समाज का बुर्जआ वर्ग आमतौर से निम्न वर्ग का बात-बात पर मजाक उड़ाता है। पहले उसे निहत्था और बेचारा बनाता है। फिर उसकी जीवन शैली या जीवन स्तर का मजाक उड़ाता है। मैं उसकी धूर्तता को निशाना बनाता हूँ और उसे उसकी असलियत बताने का प्रयास करता हूँ इसलिए कविता में तीखे व्यंग्य रहते हैं। व्यंग्य स्वभाविक तौर पर आता है और यह मेरी कविता का मुख्य स्वर भी है।

सुभाष – आपकी कविताओं पर सपाटता का आरोप भी लगता है ?

जयपाल - कुछ शुरुआती कविताओं में ऐसा लग सकता है जहां कविता एक बयान की तरह बन जाती है, लेकिन बाद की कविताओं में सपाट कथन कम है। फिर भी मैं इस बात से सहमत हूँ कि कविता सपाट बयान, भाषण, विश्लेषण और व्याख्यान नहीं होनी चाहिए। कम से कम शब्दों में कविता हो। सृजनशीलता के बिना कोई शब्द या पंक्ति शामिल न की जाए।

डा. सुभाष – वर्तमान समाज और आपकी कविता का क्या संबंध है?

जयपाल - कोई भी साहित्य अपने समाज से कटकर नहीं उपज सकता। साहित्य समाज के खेतों की ही फसल है। समाज की संपत्ति है। यह कोई असामाजिक, अमूर्त, आसमानी और अलौकिक कार्य नहीं है, न ही कोई कवि या लेखक कोई अलौकिक व्यक्तित्व होता है। इसलिए अच्छे लेखन के लिए जरूरी है समाज के अलग-अलग हिस्सों के साथ साहित्यकार का गहरे रूप में जुड़ा होना और गहन अध्ययन के द्वारा समाज को वैज्ञानिक तरीके से समझने का प्रयास करना ताकि कविता कहानी में भावोत्तेजना के कारण अतिरंजिता और अतार्किकता और अवैज्ञानिकता या कपोल कल्पना न आने पाए। ऐसा साहित्य स्वीकार्य नहीं होता। कविता लिखते समय में इन बातों को ध्यान में रखने का प्रयास करता हूँ।

मेरी कोई भी कविता न अपने लिए है, न किसी और के लिए। सभी कविताएं सामाजिक परिवर्तन की धारा को तीव्र करने के लिए है। इन कविताओं में उपेक्षित सर्वहारा के दुखों की अभिव्यक्ति है और

सत्ताधारी वर्ग के दोगलेपन और अय्याशी पर तीखे व्यंग्य हैं । इस समय पूंजीवाद क्रूरता की सभी हदें पार करते हुए लोकतंत्र को समाप्त कर तानाशाही की ओर बढ़ रहा है। धर्म को फासीवाद में बदल कर खुद को बचाना चाहता है लेकिन क्रूरता एक दिन जाएगी ही। कविता इस व्यवस्था के विरोध में खड़ी है इससे बड़ा कोई सरोकार आज कविता के लिए नहीं हो सकता। मेरी कविताएं यथास्थितिवाद के विरुद्ध हैं।

डा. सुभाष - कविता के शिल्प या कविता में कलात्मकता पर आप क्या सोचते हैं?

जयपाल - कला कला के लिए विचार अब इतिहास ने निरर्थक साबित कर दिया है। लेकिन किसी भी कविता में कलात्मक सौंदर्य होना भी जरूरी है। इससे कविता अधिक लोगों तक प्रभावशाली ढंग से पहुंचती है। कविता जटिल न हो और न सरल अर्थात जटिलता और सरलीकरण दोनों कविता को कमजोर बनाते हैं। जटिल और गंभीर सवालों को सरल तरीके से कविता के माध्यम से रखना अच्छी कविता की पहचान है कविता दुरुह भी न बने और नारा या भाषण भी न बने।

कविता

एक मील मैं चला ख़ुशी संग
वो बतियाती रही राह भर।
कितना कुछ बतलाया उसने
सीख न पाया मैं रत्ती भर।
एक मील मैं चला दर्द संग
एक शब्द भी नहीं वो बोला।
पर कितना कुछ सीखा उससे
जब वो चला संग संग मेरे।

- राबर्ट ब्राउनिंग हैमिल्टन, अनुवाद - दिनेश दधीचि



पीठासीन अधिकारी बेहतरीन कहानियों का गुलदस्ता

□ **अरुण कुमार कैहरबा**

हरियाणा के जिला यमुनानगर के जाने-माने कथाकार ब्रह्मदत्त शर्मा का तीसरा कहानी संग्रह 'पीठासीन अधिकारी' बीते वर्ष के आखिरी चरण में के.एल. पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद से प्रकाशित हुआ। संग्रह में दस कहानियां संकलित की गई हैं, जिनमें लेखक ने हरियाणा के सामाजिक ताने-बाने के विभिन्न पहलुओं, लोकजीवन के विभिन्न रंगों, खूबसूरती, विडंबनाओं व समस्याओं को पूरी कुशलता से उकेरा है।

संग्रह में दस कहानियां संकलित की गई हैं, जिनमें लेखक ने हरियाणा के सामाजिक ताने-बाने के विभिन्न पहलुओं, लोकजीवन के विभिन्न रंगों, खूबसूरती, विडंबनाओं व समस्याओं को पूरी कुशलता से उकेरा है। संग्रह की सभी कहानियां पर्याप्त विविधता लिए हुए हैं।

संग्रह की पहली कहानी 'चतुर्भुज' स्त्री-पुरूष समानता के संदर्भों को उठाती हुई पितृसत्ता पर चोट करती है। कहानी मुख्य पात्रों गौरव और शगुन के जीवन संघर्षों से आत्म-संघर्षों तक लेकर जाती है। शगुन अपने बुजुर्ग माता-पिता के प्रति पूरी जिम्मेदारी व चिंता से भरी हुई है। विवाह के बाद स्त्री की लाचारगी का उसे अहसास है। विवाह के लिए गौरव के

सामने वह अपने ही घर में रहने की शर्त रखती है, जिसे एक बारगी तो गौरव अजीब, बेतुकी और मूर्खता मानता है। लेकिन धीरे-धीरे उसकी मानसिकता में बदलाव आता है और वह विवाह की शर्त मान लेता है। शगुन का परिवार त्रिभुज से चतुर्भुज का रूप लेता है।



ब्रह्मदत्त शर्मा

संग्रह की दूसरी कहानी 'बुढ़ापे का एक दिन' में वृद्धावस्था की उपेक्षा और एकाकीपन का मुद्दा उठाया गया है। किस तरह से शहरीकरण व तकनीक के मोहपाश में हमने अपने घरों व आस-पास के बुजुर्गों से नजर फिरा ली है। युवा खेती-बाड़ी का काम छोड़ कर रोजगार की तलाश में शहरों की ओर रूख कर रहे हैं। शहरों से केबल की लाईनों के जरिये टीवी के सैंकड़ों चैनल घर के कमरों में चल रहे हैं, जिसका चस्का ही नहीं लत बढ़ती जा रही है। मोबाइल ने भी युवाओं और बच्चों को आज अपना गुलाम बना लिया है। ऐसे में गांव की चौपालों व बैठकों की रौनक गायब हो गई है। बुजुर्ग पूरी तरह से अकेले हो गए हैं। लेखक कहता है कि लोग जैसे दूरदर्शन को भूल गए थे, वैसे ही बैठकों में बैठे बुजुर्गों को भूल गए हैं। कहानी में 80 वर्ष पार कर चुके मामराज के पास भी अकेले यादों की जुगाली करने के अलावा कोई काम नहीं है। स्मृतियाँ मधुमक्खी के छत्ते की भांति मन पर चिपक पर परेशान करती हैं, लेकिन अपने अनुभव सांझा करने के लिए कोई नहीं है। परेशानी से पिंड छुड़ाने के लिए वह स्कूल में जाता है, जहां पहले की भांति बच्चे खेलते हुए नहीं दिखते। पांच-छह खेलते बच्चों को मम्मी स्कूल का होमवर्क याद करवाकर घर ले जाती है। मामराज के पोते को बच्चों के साथ खेलते हुए नेट, फेसबुक, व्हाट्सअप, डाउनलोड आदि की बातें करने से वक्त नहीं है। बेटे को भी टी.वी. पर रीयलटी शो देखना है। घर में आए भांजे को जाने की जल्दी है। मामराज की पत्नी को गुजरे तीन साल हो गए हैं। कहानी में इस बात का खुलासा रहस्यमयी ढ़ंग से जब अंतिम पंक्तियों में होता है, तब यह कहानी मर्म को छू लेती है। मामराज

किसी के साथ भी बात करने को उतावला है, लेकिन कोई बात करने वाला नहीं है। कहानी आधुनिक दौर की त्रासदी को चित्रित करते हुए सोचने को मजबूर करती है।

तीसरी कहानी 'त्रिशंकु' मौजूदा समाज की जटिलताओं की पुरूष प्रधान मानसिकता से सनी एक परत को उघाड़ा गया है। नितिन पायल से प्रेम करता है। दोनों ने प्रेम के इस रिश्ते को विवाह का मुकाम देने का संकल्प किया है। इसी बीच नितिन अपने ही कार्यालय में काम करने आई साक्षी से घुलमिल जाता है। मन ही मन वह उसे चाहने लगता है। पायल को इस बात का पता चलता है तो वह फोन पर ही नाराजगी प्रकट करती है। लेकिन वह साक्षी को मन से निकाल नहीं पा रहा। पायल के आग्रह पर आखिर नितिन साक्षी से बात करना बंद कर देता है। धीरे-धीरे साक्षी भी उसकी उपेक्षा करने लगती है। अंतर्द्वंद्व में घिरा नितिन निर्णय नहीं कर पाता और पेंडुलम की तरह झूलता रहता है। पायल उसके पास आती है और पिता के शादी के लिए राजी होने की खुशखबरी सांझी करती है। साक्षी के प्रेम में घिरा नितिन उसे सच बता देता है। नितिन के फैसले से घायल होकर पायल चली जाती है। अगले दिन जब वह कार्यालय जाता है तो अन्य कर्मचारियों से घिरी साक्षी उसका मीठा मुंह करवाते हुए बताती है कि उसकी सगाई हो गई है।



चौथी कहानी 'गुरु गोविंद' शिक्षा की विसंगतियों को उजागर करती है। अध्यापक, विद्यार्थी व समुदाय के संबंधों को उघाड़ती हुई शिक्षा में सज़ा और अध्यापक के कर्मचारीकरण पर सवाल खड़े करती है। निजी स्कूलों में खासतौर पर अध्यापकों की स्थिति

किसी दोयम दर्जे के कर्मचारी ही नहीं गधे से कम नहीं होती। वह स्वतंत्र सोच और मनपसंद विधि के साथ बच्चों को पढ़ा नहीं सकता। कभी वांछित परिणाम ना आने पर और कभी शारीरिक दंड का प्रयोग करने पर उसे अपमानित किया जाता है। ऐसे में जिस कबीर के प्रसिद्ध दोहे - गुरु गोविंद दोऊ खड़े को वह पढ़ा रहा होता है, उसके विपरीत स्थितियों को से गुजरते हुए उसकी मानसिक दशा को यहां दर्शाया गया है।

पांचवीं कहानी 'पीठासीन अधिकारी' हमारे देश की चुनावी व्यवस्था की अव्यवस्था को उद्घाटित करती है। कहानी चुनावी प्रक्रिया की उलझनों, पोलिंग पार्टी की भूमिका और चुनावी वातावरण का जीवंत चित्र प्रस्तुत करती है। पोलिंग पार्टी में किसी एक सदस्य की गैर-जिम्मेदारी किस तरह से पूरी टीम के कार्य को बुरी तरह प्रभावित कर देती है। ऐसे में यदि पीठासीन अधिकारी ही गड़बड़ी पर उतर आए तो फिर पूरी टीम पर क्या गुजरेगी, इसका अंदाजा हर चुनावी ड्यूटी दे चुके व्यक्ति आसानी से लगा सकते हैं। कहानी झूठ के सहारे से भावनात्मक आवरण में स्वार्थ-सिद्धि की चालबाजियों को भी खोल कर रखती है।

'पच्चीस साल बाद' कहानी सतिंदर की यादों के जरिये कॉलेज के दिनों की उमंग-तरंग, शरारतों, ख्वाहिशों व अभिव्यक्ति के संकट को विभिन्न कोणों से हमारे सामने पेश करती है। कॉलेज में लड़के-लड़कियों की भावनाओं को बहुत सरसता से प्रकट किया गया है, जैसे लेखक स्वयं अपनी पुराने दिनों को लेकर बैठ गया हो। कहानी में लेखक की कल्पनाशीलता की अद्भुत छटाएं देखने को मिलती हैं। कॉलेज के दिनों में शीतल को मन-ही-मन चाहने वाले सतिंदर को जब पच्चीस साल पता चला कि सम्पन्न परिवार से संबंध रखने वाली शीतल ने 12 साल पहले सुसाइड कर लिया तो कहानी दुखद अफसोस के साथ समाप्त होती है।

'बर्थडे गिफ्ट' कहानी अस्थाई शिक्षकों के जीवन-संकट, संघर्षों व समस्याओं का उद्घाटन करती है। नेताओं के द्वारा बार-बार उनसे वादे किए जाते हैं। सत्ता में आने के बाद सरकारें सभी कुछ भुला देती हैं।

पक्का होने की आस में अध्यापक के घर व बच्चों की जरूरतें अधूरी रह जाती हैं। पक्का करने की बजाय यदि उन्हें नौकरी से ही निकाल दिया जाए तो घर में क्या कुछ गुजरती है। बर्थडे गिफ्ट के रूप में बेटी को स्कूटी दिलाने का वादा नौकरी से निकाल दिए गए अध्यापक के सिर पर किस तरह से भार बन जाता है। कहानी देश भर के कच्चे कर्मचारियों की मानसिक-सामाजिक स्थितियों को यथार्थपरक व मार्मिक ढ़ंग से चित्रित करती है। निजीकरण व उदारीकरण से उपजी कंटीली राहों को दर्शाते हुए कहानी अप्रत्यक्ष रूप से समाजवादी शासन व्यवस्था और पक्के रोजगार की गारंटी की मांग उठाती है।

'पांच साल बड़ी पत्नी' कहानी उस पुरूषवादी मानसिकता को नंगा करती है, जिसमें माना जाता है कि पत्नी पति से छोटी ही होनी चाहिए। मोबाइल और पत्नी लेटेस्ट होने चाहिएं कह कर पत्नी को उपभोग की वस्तु की तरह पेश किया जाता है। अरविंद के मन में अपने से पांच साल बड़ी पत्नी को लेकर एक प्रकार की दहशत है। वह किसी भी तरीके से इस तथ्य को औरों से छुपाना चाहता है। पत्नी की रिटायरमेंट पार्टी वह इसलिए नहीं करना चाहता, क्योंकि इससे औरों के सामने उम्र का खुलासा हो जाएगा। पार्टी रोकने के लिए वह खुद को लंग कैंसर होने की सूचना पत्नी को देता है। कहानी महिलाओं के प्रति समाज की संकीर्ण सोच पर सवाल खड़े करती है।

संग्रह की नौवीं कहानी 'स्वाहा' यमुनानगर के पास लेखक के अपने ग्रामीण परिवेश की गरीबी और भोलेपन को जीवंत किया गया है। बाकी सभी कहानियों में लेखक लोकभाषा के प्रयोग की संभावनाओं के बावजूद उससे संकोच करता रहा। लेकिन स्वाहा में लोक मुखर हो उठा। स्वाहा में सिल्ला और बिमला मजदूर दंपत्ति के पक्के घर के अरमानों की बानगी देखिए - 'इब अम कोई जमींदार तो हैंनी। गरीब-गुरबों के मकान तो न्यूहीं तंगियां-संगियां सहके इ बणे करेकरां। साल दो साल तंगी काट ले! फेर मनमर्जी का खै पीलेंगे, ओढ़पैर बी लेंगे।' बिमला का यह संवाद

बताता है कि किस तरह वे अपना पक्का घर बनाने के लिए अपनी दैनिक जरूरतों के साथ भी समझौता करते हैं। एक-एक पैसा जोड़ कर बलविन्द्र चौधरी की सलाह पर बैंक में खाता खुलवाया जाता है। एटीएम बन जाता है। दोनों को यह चमत्कारिक लगता है। लेकिन बढ़ते साइबर क्राइम की भेंट उनके अरमानों के खाते में जमापूंजी भी चढ़ जाती है। खुद को बैंक कर्मी बताकर डाका डालने वाले लोग किस तरह भोले-भाले लोगों से एटीएम का पिन नंबर पूछ कर सब कुछ उड़ा ले जाते हैं। ऐसा ही सिल्ले के साथ होता है। मकान बनाने की सारी तैयारी करके जब वह बैंक से रूपये निकलवाने के लिए जाता है, तब उसके खाते से रूपये उड़ाए जाने का खुलासा होता है तो उसके पांव तले की जमीन खिसक जाती है।

किसान-विमर्श से संबंधित 'गिरफ्तारी' एक सशक्त कहानी है, जोकि सामंती प्रशासनिक सोच की पोल खोलती है। फसल अवशेष को जलाए जाने का हो-हल्ला हर तरफ मचा हुआ है। पराली जलाने वालों की धरपकड़ करने के लिए कर्मचारियों की टीमें निकली हुई हैं। तहसीलदार सरपंच के यहां आवभगत करवा रहा है। टीम के सदस्य किसान बनवारी को पकड़ कर लाते हैं। उसे अवशेष जलाने से पर्यावरण को होने वाले नुकसान के बारे में बताते हैं। भोले किसान के सहज तर्कों की बानगी देखिए - "साहब, आप भी कमाल करते हैं। मैं यहाँ अपने खेत में पराली जला रहा हूँ और धुआँ जाकर दिल्ली के ऊपर इकट्ठा हो रहा है। आकाश में उड़कर यह कहीं भी जा सकता है। दिल्ली में क्यों इकट्ठा होता है। इतनी बड़ी दुनिया में सिर्फ दिल्ली ही थोड़ी रह गई है।" किसान के तर्क हमें सोचने को मजबूर करते हैं। लेकिन उसकी सारी बातों को अनसुना करके उसे गिरफ्तार करके ले जाते हैं। जबकि उसे खेत में आलू लगाने थे।

कहानियों के विषय-चयन, विषय-वस्तु की पकड़ और रस लेकर उसे लक्ष्य तक पहुंचाने में लेखक की निपुणता देखते ही बनती है। सभी कहानियों का परिवेश हमारे आस-पास का परिवेश है। परिवेश को

जीवंत करते हुए लेखक पात्रों के मनोभावों व द्वंद्वों को भी प्रकट करता हुआ आगे बढ़ता है। कहानियों में कहीं विषय का भटकाव देखने को नहीं मिलता, जिससे शुरू से लेकर अंत तक रोचकता, जिज्ञासा व उत्सुकता बनी रहती है और पाठकों को बांधे रखती है।

भाषा किसी भी रचना का महत्वपूर्ण तत्व होता है। ब्रह्म दत्त शर्मा अपनी कहानियों की भाषा में कहीं भी विद्वता प्रदर्शित करने का मोह नहीं करते। जगह-जगह मुहावरों का प्रयोग भाषा में सारगर्भिता लेकर आता है। पात्रों व परिवेश के अनुकूल भाषा पाठक की संवदेना को समृद्ध करती है। कोई भी रचना उद्देश्य के बिना नहीं लिखी जाती। संग्रह की हर कहानी अपने उद्देश्य के साथ न्याय करती है। डॉ. बी. मदन मोहन के अनुसार 'कहानी संग्रह की दस कहानियों में सृजन की गंभीरता, अनुभव की प्रौढ़ता, अभिव्यक्ति का कौशल, सामाजिक-प्रतिबद्धता एवं मानवीय मूल्यों के संरक्षण की चिंता साफ-साफ देखी जा सकती है।'

ब्रह्म दत्त शर्मा का पहला कहानी-संग्रह 'चालीस पार' 2010 में आया था। 2014 में 'मिस्टर देवदास' आया। 2016 में उत्तराखंड की प्राकृतिक त्रासदी पर आधारित उपन्यास 'ठहरे हुए पलों में' त्रासदी का यथार्थपरक चित्रण किया गया। 2020 के अंत में आए 'पीठासीन अधिकारी' को पाठकों ने हाथों-हाथ लिया है। 2021 के शुरू में ही संग्रह का दूसरा संस्करण आ गया है। हम उम्मीद करते हैं कि आने वाले समय में ब्रह्मदत्त शर्मा की कलम से और बेहतरीन रचनाएं निकलेंगी और शब्द-संसार व संवेदनाओं को समृद्ध करेंगी।

अरुण कैहरबा, शिक्षा विभाग हरियाणा में हिंदी प्राध्यापक, संस्कृतिकर्मी व कॉलम लेखक। संपर्कः 9466220145





मेवात का महान स्वतन्त्रता सेनानी कामरेड चौ. अब्दुल हई

□ सिद्दीक अहमद 'मेव'

चौधरी अब्दुल हई का जन्म, मेवात के एक छोटे से गाँव घुड़ावली में 7 जुलाई 1907 को हुआ। उनके पिता चौधरी रणधीर सिंह एक किसान थे और ताऊ गाँव के नम्बरदार थे। माता-पिता ने इस खूबसूरत बालक का नाम रखा था, जीवन खाँ जो आगे चलकर पूरे मेवात में अब्दुल हई के नाम से मशहूर हुआ। उनके माता-पिता यद्यपि अनपढ थे, मगर ताऊ नम्बरदार थे। पढ़े-लिखे लोगों की संगत ने नम्बरदार के दिल में बालक जीवन खाँ को पढ़ाने का शौक पैदा किया। ताऊ के ज़ज्बे और शौक ने बालक जीवन खाँ के कदमों को तब शिक्षा की रोशनी की ओर बढ़ाया।

जीवन खाँ की प्राथमिक शिक्षा गाँव से दो मील दूर उटावड़ के प्राईमरी स्कूल में हुई। हथीन के लॉवर मिडिल स्कूल से सन् 1923 में मिडिल की परीक्षा पास की। इसके बाद जीवन खाँ ने ब्रेन मेव हाई स्कूल, नूंह में दाखिला लिया। सन् 1927 में मैट्रिक पास की और उच्च शिक्षा के लिए इन्टर कॉलेज, मालेर कोटला चले गये। मगर यहाँ का मौसम उन्हें रास नहीं आया और बीमार रहने लगे। मजबूरन पढ़ाई छोड़ दी और घर वापिस लौट आये।

कुछ समय पश्चात् अहमदाबाद चले गये और एक कपड़ा मिल में नौकरी करने लगे। मगर यहाँ मजदूरों का शोषण देखकर उनका दिल भर आया और नौकरी छोड़ गाँव लौट आये। इसके बाद पुलिस में भर्ती हो

गये। मगर पुलिस की नौकरी छोड़ घर लौट आये। सन् 1928 में आपकी शादी हो गई और आप गाँव में ही रहने लगे ।

1929 में टीचर्स ट्रेनिंग के लिए इस्लामिया कॉलेज, लाहौर में दाखिला ले लिया इस्लामिया कॉलेज से आपने एफ.ए. किया और फिर बी.ए. में दाखिला ले लिया। लाहौर राजनैतिक आन्दोलनों का गढ़ था। देश के बड़े-बड़े नेता यहाँ आते थे। शायद लौहार के माहौल से प्रभावित हो चौधरी अब्दुल हई के दिल में वतन की आजादी के लिए संघर्ष करने का ज़ज्बा पैदा हुआ।

इसी समय रियासत अलवर द्वारा जनता पर किये जा रहे जुल्मों के समाचार मिलने लगे। रियासत में शिक्षा का कोई प्रबन्ध नहीं है, मगर जनता से भारी भरकम टैक्स वसूले जा रहे हैं। जनता की न कोई सुनने वाला था और न कोई सुध लेने वाला। राजा के कुप्रबन्ध, ऐय्याशी और फिजूलखर्ची ने जनता पर टैक्सों का इतना भार डाल दिया था कि जनता इस बोझ के नीचे दब कर सिसक रही थी।

किसानों ने महाराजा की दमनकारी नीतियों के विरूद्ध आन्दोलन छेड़ दिया, जिसका नेतृत्व मेवात के सर्वमान्य नेता चौ. मुहम्मद यासीन खाँ के हाथों में था। सन् 1932 में आपने लाहौर को खैरबाद कह दिया और घर वापिस लौट आये। नूह जाकर चौधरी मुहम्मद यासीन खाँ से मिले। लम्बे विचार-विमर्श के बाद तय हुआ कि ऑल इण्डिया मेव पंचायत, अलवर रियासत के प्रत्येक गाँव में अपने स्कूल कायम करे ताकि मेवाती भी आधुनिक शिक्षा की रोशनी से परिचित हो सकें।

चौ. अब्दुल हई को ऑल इण्डिया मेव पंचायत का ऑफिस सेक्रेटरी बनाया गया, साथ ही पहाड़ ऊपर के स्कूलों का प्रबन्धक भी बनाया गया। आपका मुख्यालय ग्राम डोटाना, तहसील तिजारा में था, जहाँ आपने अध्यापन का काम भी किया आल इण्डिया मेव पँचायत का भी। अब 'अलवर तहरीक' जोर पकड़ चुकी थी। इसलिए आपको नूंह केन्द्रीय कार्यालय में बुला लिया गया। डा. कंवर मुहम्मद अशरफ, सय्यद मुतल्लबी फरीदाबादी और दूसरे मुस्लिम नेताओं से मुलाकात के बाद

आपकी शख्सियत में और निखार आ गया । सन् 1933 -34 में 'अलवर तहरीक की सफलता के बाद चौ. अब्दुल हई ज्यादातर सय्यद मुतल्लबी फरीदाबादी के साथ फरीदाबाद में ही रहने लगे। चौ. अब्दुल हई कांग्रेस में शामिल हो गये। सय्यद मुतल्लबी तो पहले ही कांग्रेस में थे और डा. कंवर मुहम्मद अशरफ छात्र जीवन से ही स्वतन्त्रता आन्दोलन की गतिविधियों से जुड़े हुए थे। तीनों मिलकर भरतपुर प्रजा परिषद तथा अलवर प्रजा मण्डल के स्वतन्त्रता आन्दोलनों में भाग लेते रहे।

सन् 1929 में लाहौर में कांग्रेस के अधिवेशन में चौ. अब्दुल हई ने भाग लिया और गाँधी जी के विचारों से प्रेरणा लेकर आजादी के ज़ज्बे से ओत-प्रोत हो मेवात वापिस लौटे और मेवात में कांग्रेस कमेटियों का गठन किया। पहली बार मेवाती सीधे कांग्रेस के साथ जुड़े। स्वतन्त्रता आन्दोलन के साथ-साथ लोगों की भलाई, गरीबों व असहायों की मदद, शोषण और नाइन्साफी के खिलाफ आवाज उठाना दिनचर्या में शामिल था।

सन् 1939 में, गाँधी जी ने अंग्रेजी सरकार के खिलाफ सत्याग्रह शुरू किया। चौ. अब्दुल हई पूरे उत्साह व जोश के साथ सत्याग्रह में कूद पड़े। पूरा मेवात 'भर्ती मत दो, मालगुजारी मत दो' के नारे से गूँज उठा। सन् 1940 में आली मेव गाँव में चौ. कमल खाँ के सहयोग से एक विशाल जनसभा का आयोजन किया, जिसमें चौ. अब्दुल हई ने जोशीला भाषण दिया। जनसभा समाप्त होते ही उन्हें पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया। उन्हें हथीन थाने में रखा गया और गुड़गाँव न्यायालय में पेश किया गया। न्यायालय ने उनके भाषण के कुछ अंश उन्हें पढ़कर सुनाए, जिन्हें चौ. अब्दुल हई ने बड़े साहस के साथ स्वीकार कर लिया। इस पर न्यायालय ने उन्हें डेढ़ साल सश्रम कारावास की सजा सुनाई। इस दौरान उन्हें गुडगाँवां, हिसार और रावलपिन्डी जेलों में रखा गया।

1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन में भी चौ. अब्दुल हई के नेतृत्व में मेवातियों ने भारी संख्या में सरकार का जोरदार विरोध किया। सन् 1946 में कांग्रेस के अन्दर वैचारिक मतभेद उभर आये चौ. अब्दुल

हई डा. कंवर मुहम्मद अशरफ और सय्यद मुतल्लबी फरीदाबादी के साथ कांग्रेस छोड़ कम्यूनिस्ट पार्टी में शामिल हो गये व आजीवन अपने इस फैसले पर अडिग रहे। साम्यवाद उनकी नजरों में एक विचारधारा थी, जिसके द्वारा देश में मौजूद संसाधनों का समान बंटवारा कर, अमीर-गरीब की खाई को पाटा जा सकता था। किसानों, मजदूरों, भूमिहीनों और गरीबों का हक केवल साम्यवाद ही दिलवा सकता था। जमाखोरी, सूदखोरी, शोषण,लूट और बेगार प्रथा की समाप्ति केवल साम्यवाद ही कर सकता था।

विभाजन के दौरान चौ. अब्दुल हई की सूझ-बूझ और कांग्रेस में उनके रसूकात ने सांप्रदायिक सदभाव बनाए रखने का काम किया। 19 दिसम्बर 1947 को महात्मा गाँधी जी ने घासेड़ा आकर कहा कि मेव हिन्दुस्तान की रीढ़ की हड्डी है उन्हें जबरदस्ती उनके घरों से नही निकाला जा सकता।

आजादी के बाद भी आप किसानों और मजदूरों के अधिकार के लिए लगातार संघर्षरत रहे। 1952 में गुडगाँवा से कम्युनिस्ट पार्टी के टिकट पर लोक सभा का चुनाव लड़ा, मगर कामयाब नहीं हुए। तत्पश्चात् आपको इन्डो-सोवियत कल्चरल सोसायटी का जनरल सेक्रेटरी बनाया गया। जीवन के अन्तिम वर्षों में आप 'अलवर तहरीक' पर किताब लिख रहे थे, मगर जिन्दगी ने वफा नहीं की। एक दिन घर से तैयार होकर दिल्ली पब्लिक लाईब्रेरी को निकले और सडक पार करते हुए फिसल कर गिर पड़े। कूल्हे की हड्डी टूटने के कारण चलने-फिरने में मजबूर हो बिस्तर पकड़ लिया। 18 जुलाई, 1991 को 85 साल की उम्र में मेवात के इस महान् सपूत ने अन्तिम सांस ली। आपको आपके आबाई गाँव घुड़ावली में पूरे राजकीय सम्मान के साथ दफनाया गया जहाँ आज भी आप चिरनिद्रा में आराम कर रहे हैं।

लेखक - सिद्दीक अहमद मेव, मेवात के इतिहास, संस्कृति विशेषज्ञ हैं। संपर्क - 9813800164





आगाज़-ए-अमन दोस्ती यात्रा

स्वतंत्रता की 75वीं जयंती वर्ष के अवसर पर आगाज-ए- दोस्ती यात्रा(भारत-पाक दोस्ती यात्रा) का आयोजन किया गया। यह यात्रा 13 अगस्त से 15 अगस्त 2021 तक महात्मा गांधी की समाधि राजघाट से चलकर शहीद भगत सिंह, राजगुरु व सुखदेव के समाधि स्थल हुसैनीवाला, फिरोजपुर तक पहुँची। वहाँ 14-15 अगस्त की मध्यरात्रि को दीप जलाकर आज़ादी का उत्सव, स्वतन्त्रता सेनानियों के प्रति सम्मान और दक्षिण एशियाई शांति एवं सदभावना का प्रतीक बनी।

सन 1980 के दशक में प्रसिद्ध पत्रकार एवं शांतिकर्मी श्री कुलदीप नैय्यर तथा प्रसिद्ध गांधीवादी निर्मला देशपांडे ने किया था। जिसमें डॉ मोहिनी गिरी, डॉ सईदा हमीद, श्री रमेश चंद्र शर्मा, श्री सतपाल ग्रोवर एवं श्री रमेश यादव सरीखे शांतिकर्मी 'गोली नही-बोली चाहिये', 'जंग नही-अमन चाहिए', 'युद्ध नहीं - बुद्ध चाहिए' के नारों के साथ सहभागी रहे। उसी यात्रा की शृंखला में इस यात्रा के प्रवाह को आगे बढ़ाने के लिए आगाज़ -ए -दोस्ती के नेतृत्व में अन्य साथी व संगठन आगे बढ़ा रहे हैं।

13 अगस्त को यह यात्रा कुरुक्षेत्र पहुंची।'देस हरियाणा' पत्रिका और 'सत्यशोधक फाउंडेशन' के नेतृत्व में कुरुक्षेत्र के प्रबुद्ध व्यक्तियों ने

इस यात्रा का स्वागत किया। इस अवसर डॉ. कृष्ण कुमार ने यात्रियों का स्वागत किया और इस यात्रा का महत्व बतलाते हुए कहा कि ऐसे प्रयास भविष्य में सकारात्मक परिणाम लेकर आएंगे। यात्रा के पड़ाव में पंजाब एवं हरियाणा के बहुत से गांव, कस्बे और शहर हैं, जहां इस यात्रा के नेतागण शांति, लोकतंत्र ,बंधुता एवं समानता का संदेश देंगे।

इस अवसर डॉ. प्रदीप सिंगला की पुस्तक 'बरगद बाबा' का विमोचन भी किया गया। जिसमें देस हरियाणा पत्रिका के संपादक डॉ. सुभाष चन्द्र, डॉ, रविन्द्र गासो, डॉ. ओम प्रकाश करुणेश, राजविन्द्र चंदी, सुनील थुआ, सुनील दत्त, डॉ. प्रदीप सिंगला, अरुण कुमार कैहरबा, मा. महेन्द्र सिंह, राहुल, साहिल नैन, गौरव, योगेश आदि मौजूद थे।

प्रेमचंद जयंती और उधम सिंह की शहादत

दिनांक एक अगस्त 2021 को प्रेमचंद जयंती और शहीद उधम सिंह की शहीदी दिवस के अवसर पर ओम प्रकाश ग्रेवाल अध्ययन संस्थान, कुरुक्षेत्र की ओर से प्रेमचंद की प्रासंगिकता और शहीद उधम सिंह का जीवन और शहादत विषय पर संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें मुख्य वक्ता के तौर पर कृष्ण कुमार और राजविन्द्र सिंह चंदी उपस्थित रहे। डॉ. सुभाष चन्द्र ने अध्यक्षता की। प्रस्तुत है संक्षिप्त रिपोर्टः

डॉ. कृष्ण कुमार ने कहा कि प्रेमचंद ने अपने साहित्य और उनके पात्रों के माध्यम से हमें मनुष्यता का पाठ पढ़ते है। प्रेमचंद के साहित्य का फलक इतना विस्तृत है कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के सभी सवालों को प्रेमचंद के साहित्य में देखा जा सकता है।



शहीद उधम सिंह के बलिदान और चिन्तन पर विचार करते हुए राजविन्द्र चंदी ने कहा कि स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय अंग्रेजों ने समाज की एकता और भाईचारे को अपना निशाना बनाया था जिसका परिणाम हम विभाजन के तौर पर देखते है, ऐसे समय में क्रांतिकारियों ने स्वाधीनता के साथ-साथ अपना ध्यान सांझी विरासत की ओर दिया जिसमें वह अपना नाम मोहम्मद सिंह आजाद रखते है। उधम सिंह हमारे इतिहास का एक अध्याय है जो हमें भविष्य निर्माण के लिए अपने विचार और बलिदान के माध्यम से अनेक शिक्षा देते है।

डॉ. सुभाष चन्द्र ने अध्यक्षीय वक्तव्य में कहा कि सबसे महत्वपूर्ण बात यह देखने की है कि एक महान शख्सियत का निर्माण कैसे होता है और उसके व्यक्तित्व में महान विचार कैसे पनपते है। शहीद उधमसिंह जिस सामाजिक पृष्ठभूमि से ताल्लुक रखते थे वहां से क्रांतिकारी व्यक्तित्व का बनना महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद के अनुसार सांस्कृतिक विकास का सबसे उत्तम साधन सरल साहित्य है। मनुष्यता का विकास ही सबसे बड़ा विकास है इस अवसर ओम प्रकाश करुणेश, कर्मचंद केसर, हरपाल गाफिल, विकास साल्याण, बलदेव सिंह मेहरोक, व जन नाट्य मंच की टीम मौजूद थी।



भाई भगवतीचरण की शहादत

□ **विश्वनाथ वैशम्पायन**

भगवती चरण वोहरा (15 नवंबर 1903 – 28 मई 1930) उर्फ बापू भाई भारत के स्वतंत्रता संग्राम के महान क्रांतिकारी थे। वे हिन्दुस्तान प्रजातांत्रिक सोशलिस्ट पार्टी के सदस्य और भगत सिंह के साथ ही एक प्रमुख सिद्धांतकार थे। कई दस्तावेज उन्होंने लिखे। उनकी मृत्यु बम परिक्षण के दौरान दुर्घटना में हुई। क्रांतिकारी विश्वनाथ वैशम्पायन उस समय उनके साथ मौजूद थे। प्रस्तुत है उस घटना का मार्मिक संस्मरण - सं.

28 मई 1930 को भगवतीचरण, सुखदेवराज तथा मैं लगभग दस-ग्यारह बजे भोजन कर रावी के किनारे घने जंगल में बम विस्फोट के लिए गए। जब रावी के किनारे पहुँचे तो साइकिल घाट पर ही छोड़ दी। यूनिवर्सिटी क्लब की नावें जिस व्यक्ति की देखरेख में थीं वह सुखदेवराज से अच्छी तरह परिचित था तथा सुखदेवराज बोट क्लब का सेक्रेटरी भी था। इसलिए नाव मिलने में कठिनाई न हुई। सुखदेवराज और बापू भाई नाव खेना जानते थे। इसलिए मल्लाह भी साथ लेने की आवश्यकता नहीं थी। आते समय रास्ते में कुछ सन्तरे व एक तरबूज साथ ले लिया था। गर्मी तेज थी, लू भी जोरों से चल रही थी। नाव जब

जंगल के पास पहुँची तो उसे किनारे लगाकर खूँटे से बाँध दिया गया। साथ ही तरबूज भी नाव में ही छोड़ दिया गया। यह सोचकर कि लौटकर नाव पर ही उसे खाएँगे। सन्तरे भी साथ ले लिए थे कि प्यास लगने पर उनसे प्यास बुझाई जा सके । इन दिनों भाई भगवतीचरण बहुत प्रसन्न थे। आज़ाद से मिलकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई थी। वे कहा करते थे कि भैया के साथ काम कर ब्रिटिश शासन से टक्कर लेने में अब मजा आएगा। वे अनुभव करने लगे थे कि उनकी सारी जिम्मेदारी मानो आज़ाद ने सहेज ली हो और वे उस भार से मुक्त हो गए हों। उन्हें अब ऐसा व्यक्ति मिल गया है जिससे वे परामर्श कर उचित मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वे भगत और दत्त को छुड़ाने में सफल हो जाएँगे।

जंगल में एक सुरक्षित स्थान देखकर हम लोग रुके। सामने एक बड़ा सा गड्ढा था। उसी में बम फेंककर परीक्षण करना था। पहले सुखदेवराज ने बम फेंकने को लिया, परन्तु उसने उसे देखने पर कहा कि बम की पिन ढीली है। इस पर मैंने उसे चलाने की इच्छा प्रकट की। बापू भाई ने बम हाथ में लेकर देखा और बोले, 'तुम लोग पीछे हटो मैं देखता हूँ।' हम दोनों ने बहुत मना किया पर वे न माने, अपनी जिद पर अड़े रहे। पिन निकाली, फेंकने को हाथ उठा भी न पाए थे कि बम का विनाशकारी विस्फोट उनके हाथ में ही हो गया। धुएँ का गुब्बार छा गया। उसके कम होते ही हमने देखा कि बापू भाई जमीन पर जख्मी हो पड़े हैं। इधर सुखदेवराज के बाएँ पैर में एक बम का टुकड़ा घुस गया था। हम दोनों ने तय किया कि सुखदेवराज बँगले में जाकर साथियों को खबर दे और मैं बापू भाई के पास रहूँ। यह सब क्षण भर में ही हो गया। राज के जाने पर मैं बापू भाई को सहारा देकर जंगल के घने भाग में ले गया जिससे विस्फोट की आवाज से यदि कोई इधर आए भी तो उसे पता न चले।

भाई भगवतीचरण को भूमि पर लिटाकर मैं उनके घावों पर पट्टियाँ बाँधने लगा। उनका एक हाथ कलाई से उड़ गया था। दूसरे हाथ की उँगलियाँ कट गई थीं। सबसे बड़ा घाव पेट में था जिससे कुछ अंतड़ियाँ

बाहर निकल आई थीं। मैं एक हाफ पैंट और कोट को छोड़ शरीर पर जितने कपड़े थे उन सबको फाड़-फाड़कर उनके घावों पर बाँध चुका था। पर रक्त की धाराएँ धरती का अभिषेक किए ही जा रही थी। इतनी शारीरिक वेदनाएँ होते हुए भी उनके मुख पर मुस्कान वैसी ही थी। मानो वे वेदनाएँ उन्हें छू भी नहीं रही थीं। मृत्यु की उपेक्षा का यह अदम्य साहस था। मेरी स्थिति ऐसी थी मानो अपनी मृत्यु का ही चित्र मैं अपने सामने देख रहा हूँ। उनके शरीर की मूक वेदनाएँ मेरी मानसिक वेदना का बोझ बनती जा रही थीं। मैंने रुंधे कंठ से इतना ही कहा, 'भैया आपने यह क्या किया।' उत्तर में वही हठीली मुस्कान, वही शान्त मधुर वाणी- 'यह अच्छा ही हुआ। यदि तुम दोनों में से कोई घायल हो जाता तो मैं भैया को मुख दिखाने लायक न रहता।' आत्म बलिदान का कितना महान आदर्श! मृत्यु से संघर्ष जारी था पर अन्त में विजय मृत्यु की हुई। उन्होंने हँसते-हँसते देश की स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपने आपको चढ़ा दिया। बलिदान की आहुति पूर्ण हुई। पार्थिव शरीर छोड़ने के पूर्व उनका इतना ही सन्देश था। मेरी मृत्यु भगत-दत्त को छुड़ाने की योजना में बाधक न हो। उस कर्तव्य की पूर्ति ही मेरी आत्मा को शान्ति देगी। बाकी जो कहा वह मानो कोई अपने छोटे भाई से कह रहा हो। अपनी भाभी का साथ न छोड़ना, यह कहते-कहते उनके दोनों हाथ ऊपर उठे मानो वे मेरे अश्रु पोंछना चाहते हों। पर सान्त्वना का सुखद स्पर्श प्रदान करनेवाली उँगलियाँ तो होम हो चुकी थीं। वे निर्निमेष दृष्टि से मेरी ओर देखते रहे। फिर प्यास और पानी की पुकार पास जो सन्तरे थे उन्हें छील-छील कर खिलाता रहा। उसके बाद पास के गड्ढे से हैट में पानी भरकर लाता और बूंद-बूंद

क्रांति पूंजीवाद, वर्गवाद तथा कुछ लोगों को ही विशेषाधिकार दिलाने वाली प्रणाली का अंत कर देगी। यह राष्ट्र को अपने पैरों पर खड़ा करेगी, उससे नवीन राष्ट्र और नये समाज का जन्म होगा। क्रांति से सबसे बड़ी बात तो यह होगी कि वह मजदूर व किसानों का राज्य कायम कर उन सब सामाजिक अवांछित तत्त्वों को समाप्त कर देगी जो देश की राजनीतिक शक्ति को हथियाए बैठे हैं। - बम का दर्शन



भगवतीचरण वोहरा अपनी पत्नी दुर्गा भाभी व बच्चे के साथ

उनके मुँह में टपकाता रहा। बीच-बीच में गीले कपड़े से उनका मुँह भी पोंछता रहा। पर यह सब तो मन को केवल समझाना मात्र था। मैं बार-बार आहट लेता था कि शायद कहीं साथी डॉक्टरी मदद लेकर आ रहे हों। पर घंटों बीत गए कोई नहीं। फिर यशपाल की आवाज सुनाई दी। थोड़ी ही देर में वह छैलबिहारी के साथ वहाँ पहुँच गया। मैंने पूछा- 'डॉक्टरी सहायता नहीं लाए।' उत्तर था, 'भगवती भाई को ले जाने के लिए टैक्सी लाया हूँ !' परन्तु टैक्सी में उन्हें ले जाना असम्भव था। अब हम छैलबिहारी को वहाँ छोड़ डॉक्टरी सहायता के लिए वापस लौटे। पहले इन्द्रपाल के घर जाकर उसे एक चारपाई और कुछ आदमियों के साथ वहाँ जाने को कहा और तब मेडिकल कॉलेज गए। वहाँ सच्चिदानन्द वात्स्यायन के भाई ब्रह्मानन्द जो मेडिकल कॉलेज में पढ़ते थे, उनकी सहायता से कुछ और साथी और आवश्यक दवाइयाँ ले घटनास्थल की ओर गए। घना अन्धकार ! टार्च की रोशनी के सहारे हम जंगल में घुसे। मास्टर छैलबिहारी को पुकारना प्रारम्भ किया परन्तु कोई उत्तर नहीं। इसी बीच टार्च की रोशनी में सफेद

कपड़े की धज्जियाँ बँधी दिखाई दी। उन्हीं के सहारे आगे बढ़े। बापू भाई का शरीर शान्त एकान्त में पड़ा था। छैलबिहारी का कहीं पता नहीं था। सूर्यास्त के साथ ही बापू भाई महायात्रा का बहुत-सा मार्ग चलकर पार कर चुके थे। दूर बहुत दूर हमारी पहुँच से बाहर। केवल हमारी श्रद्धांजलि ही उन तक पहुँचने में समर्थ थी। इसलिए उन्हें ले जाने

के लिए हम जो चादर लाए थे उसी में उनका पार्थिव शरीर लपेट दिया, एक मिनट मौन हो शहीद को श्रद्धांजलि अर्पित कर दल का एक महान नेता खोकर हम असहाय दीन हो बैंगले वापस लौटे।

वहाँ लोगों को छैलबिहारी से सबकुछ मालूम हो चुका था। बीच के कमरे में बैठे सभी हमारी प्रतीक्षा कर रहे थे। सभी की दृष्टि में प्रश्न चिह्न थे और हमारी झुकी दृष्टि ही मानो उन सबका मौन उत्तर था। मैं भी उन्हीं के बीच बैठ गया। आँसू फिर बह चले। भाभी आँखें बन्द कर निश्चल बैठी थीं। दीदी सिर थामकर रह गई। भैया सिर झुकाकर आखें पोंछ रहे थे। धनवन्तरी भी बेहाल थे। मदन और छैलबिहारी भी उदास थे। राज घायल पलंग पर पड़ा था। अब भाभी उठी और सभी को धीरज बँधाने लगी, परन्तु उनका भी यह साहस अधिक देर न टिक सका। मैंने तथा भैया ने उन्हें ले जाकर पलंग पर लिटा दिया। भैया ने उन्हें धीरज बँधाते हुए कहा - 'तुमने पार्टी के लिए अपना सर्वस्व निछावर कर दिया है। तुम्हारे प्रति हम अपने कर्तव्य को कभी न भूलेगें। दीदी और धनवन्तरी सारी रात भाभी के पास बैठे रहे।

यह सब होते हुए भी भगवती भाई का अन्तिम संस्कार तो करना ही था। रात बापू भाई की स्मृति में आँखों में ही बीत गई भाभी तथा दीदी ने बापू भाई के अन्तिम दर्शनों की इच्छा प्रकट की परन्तु सारी परिस्थिति समझकर भैया ने ऐसा करने से उन्हें मना किया। इतने सबेरे दो स्त्रियों को साथ लेकर रावी के जंगल में जाना खतरे से खाली नहीं था। धनवन्तरी ने गैंती और फावड़ों की व्यवस्था की। धनवन्तरी, आज़ाद और मदनगोपाल पौ फटने के पूर्व ही रवाना हो गए। सूरज निकलते-निकलते वे शव को धरती माता की गोद में सुला लौट आए। क्योंकि दाह संस्कार करना खतरे से खाली नहीं था। नदी में इतना पानी भी नहीं था कि शव को प्रवाह कर दिया जाता।

(साभारः अमर शहीद चंद्रशेखर आजाद, राजकमल प्रकाशन, पृ.-221-223)

साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास के भागीदार



सत्यशोधक फाउंडेशन व
देसहरियाणा पत्रिका की संस्थापक
श्रीमती विपुला की स्मृति में उनके
परिवार के सौजन्य से

बाल-जगत कॉलम

चंडीगढ़ में जन्मी विपुला (23.9.1971 - 8.1.2021) ने भिवानी से स्कूली शिक्षा, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ से बीएस सी गृह-विज्ञान, भिवानी से बीएड तथा कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय से 'खाद्य एवं पोषण' में एम. एससी. की शिक्षा प्राप्त की। शिशुओं के लिए अपना स्कूल स्थापित किया। बाद में राजकीय कन्या वरिष्ठ माध्यमिक विद्यालय, प्रतापगढ़ (कुरूक्षेत्र) में हरियाणा शिक्षा विभाग में पीजीटी (गृह विज्ञान) के तौर पर योगदान दिया। विद्यार्थियों के साथ उनका गहरा लगाव था। अपने विद्यार्थियों की सृजनात्मक प्रतिभा को निखारने के उपक्रमों में अपनी ऊर्जा लगाती थी। साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास के कार्यों में संलग्न रहती थी। 'देस हरियाणा' व सत्यशोधक फाउंडेशन के समस्त कार्यों में सक्रिय थी। 8 जनवरी, 2021 को भौतिक-जगत से विदा हो गई।

देसहरियाणा पत्रिका में किसी कॉलम
के प्रकाशन में भागीदार बनकर
साहित्यिक-सांस्कृतिक विकास के
सहयोगी बन सकते हैं।

गीत-कविता की जरूरत और काम के तरीके

□ प्रभात

राष्ट्रीय पर्वों और सांस्कृतिक समारोहों के दौरान स्कूलों मे गीत गाए जाएँ, कविताएँ सुनी और सुनाई जाएँ इसे लेकर बच्चों के माता पिता, स्कूल और समाज में व्यापक सहमति है लेकिन गीत-कविताएँ बच्चों के जीवन में रच-बस जाएँ, वे उनका भरपूर आनन्द लेने लगें, तुकबन्दियाँ करने लगें, रचने लगें यह माता-पिता को मंज़ूर नहीं। अभिभावकों को लगता है कि ऐसा करते हुए वे उस राह से भटक जाएँगे जिस राह पर वे उन्हें चलाना चाहते हैं। उनकी इस इच्छा में यह निहित है कि बच्चे केवल वही करें जैसा माता-पिता चाहते हैं। उनके भीतर बच्चे के स्वतंत्रतापूर्वक सीखने की प्रक्रिया के प्रति सतत सन्देह और गहरा डर बना रहता है। यही हाल स्कूल का भी है। गीत-कविता स्कूल और कक्षाओं की रोज़मर्रा की गतिविधि का हिस्सा बन जाएँ यह स्कूल को मंज़ूर नहीं। स्कूल को लगता है इस सबके लिए समय कहाँ है। यह पाठ्यपुस्तक से बाहर की गतिविधि है। वे चाहते हैं कि शिक्षक पहले परीक्षा परिणाम बेहतर लाने के लिए काम करें।

कहाँ गई गीत – कविता ?

दूसरी ओर हमारी संस्कृति और समाज में गीत - कविता की जो जगहें थीं वे लगातार सीमित हुई हैं। गीत-गाने, सुनने-सुनाने के बहुतेरे अवसर हुआ करते थे, वे अवसर ही गीत-कविताओं को गुनगुनाते रह सकने के लिए, याद करने को प्रेरित करते थे। सहेजने और रचने के लिए प्रेरित करते थे। उनमें कुछ जोड़ने के लिए प्रेरित करते थे। इस सबके

लिए अतिरिक्त प्रयासों की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। वह जीवनशैली का स्वाभाविक हिस्सा था। बच्चों के लिए पढ़ाई से अधिक खेलने-कूदने के लिए समय और जगहें थीं। खेलने-कूदने की मस्ती के दौरान ही उनके बीच स्वतः ही नए खेलों, तुकबन्दियों, खेलगीतों और बालगीतों का सृजन भी हो जाया करता था। उनकी ये रचनाएँ चलन में आ जाया करती थीं, जुबान पर चढ़ जाती थीं और सालों-साल उनकी टोलियों के बीच बनी रहती थीं। समय के साथ उनमें कुछ कमी पाई जाने पर संशोधित होती रहती थीं। ऐसी जगहें समय के साथ अब शेष नहीं बची हैं।

आज बच्चों के खेलने-कूदने की सार्वजनिक जगहें या तो खत्म हो गई हैं या इतनी घुटनभरी हो गई हैं कि वे उतने मुक्त, उतने निर्भीक अब शायद नहीं रह पाते। वे खेल के मैदानों से अधिक टीवी, कम्प्यूटर, मोबाइल आदि के सामने बने रहते हैं। बच्चों की बच्चों से दूरी बढ़ गई है। स्कूलों ने उनके लिए सीखने-सिखाने के व्यवस्थित अवसर दिए हैं तो नए तरह के दबाव भी दिए हैं। वे अब पग-पग पर निर्देशित किए जाते हैं। इसने उनकी स्वतंत्र सोच को कुन्द किया है। उनके लिए किताबें कुछ हद तक बढ़ी हैं लेकिन उन्हें पढ़ने की प्रेरणाएँ और समय घट गए हैं।

भावनात्मक पोषण

गीत- कविता के माध्यम से जो मानसिक और भावनात्मक पोषण बच्चों को मिलता था, वह लगभग समाप्त हो गया है। मानसिक और भावनात्मक पोषण उनकी नैसर्गिक ज़रूरत है। अगर वह नहीं मिलता है तो मनोवैज्ञानिक नुकसान तय है। जैसे शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उचित पोषण नहीं मिलने पर उसके नुकसान शरीर पर प्रकट होते हैं, ठीक वैसे ही मानसिक और भावनात्मक पोषण नहीं मिलने के नुकसान उनके व्यवहार और उनकी सृजनात्मकता के स्तर पर प्रकट होते हैं। इन सबको या तो अनदेखा कर दिया जाता है या समझने का प्रयास ही नहीं किया जाता।

बच्चों के मानसिक और भावनात्मक पोषण का जो सांस्कृतिक झरना समाज में सूख चला है, जिसके चलते बचपन के सौन्दर्य को क्षति पहुँची है, इस क्षति की कुछ भरपाई स्कूल में की जा सकती है - भाषा की कक्षाओं में साहित्य शिक्षण की सृजनात्मक गतिविधियों का विस्तार करके। साहित्य शिक्षण जिसमें गीत-कविता ही नहीं कहानी सुनना-सुनाना, रचनात्मक लेखन पर काम करना आदि बातें भी शामिल हैं।



नीरस पढ़ाई

फिलहाल हमारी भाषा की कक्षाओं में कविता पर काम करने का तरीका सन्तोषजनक नहीं है। शिक्षक कविता को नीरस ढंग से पढ़ डालते हैं और उसका अर्थ समझाने लगते हैं। वे किताब खोलकर और बच्चों से खुलवाकर पढ़ते हैं, “बैठ डाल पर चिड़िया रानी, चूँ चूँ, चीं-चीं गाती है।” अब वे इसका अर्थ करते हैं गोया इस पंक्ति का इसके अलावा भी कोई अर्थ हो। वे कुछ इस तरह की कवायद करते हैं। "डाल समझते हो, डाल?” कविता की पंक्ति का चित्र बच्चों के सामने एकदम स्पष्ट हो गया लेकिन मास्टर जी पूछते हैं, “डाल जानते हो?” फिर कहते हैं, “पेड़ देखा है कभी पेड़ ? खेतों में कहीं-कहीं दिखते हैं। सड़कों के किनारे भी होते हैं।”

बच्चे सोचते हैं, हाँ देखे हैं। मौका मिलने पर चढ़े भी हैं लेकिन मास्टर जी आज डाल, पेड़, चिड़िया का इतना हव्वा क्यों बना रहे हैं। बहरहाल ! ऐसी दो-एक बातों के बाद मास्टर जी जितनी जल्दी हो सके प्रश्नोत्तर पर आते हैं। जो कि उनकी नज़र में वास्तविक पढ़ाई है। "अच्छा बताओ, बैठ डाल पर चिड़िया रानी कहाँ चूँ-चूँ, चीं-चीं करती थी?" यानी, कविता का रसभंग कर देना ही कविता की पढ़ाई है।

ज़ाहिर है गीत-कविता जैसे सरस विषय को ऐसे नीरस ढंग से पढ़ाया जाना बच्चों में गीत-कविता में सुरुचि जगाने की बजाय अरुचि ही जगाता है। छोटे बच्चों के लिए यह बिना ग्लोब के कर्क रेखा ढूँढने जैसा है। कविता शिक्षण का यही हाल आगे की बड़ी कक्षाओं और कॉलेज तक भी बना रहता है जिसका नतीजा यह होता है कि छात्र साहित्य में बी.ए., एम.ए., पीएच. डी. सब कुछ कर डालते हैं पर वे काव्य में रस लेना नहीं सीख पाते।

बच्चों की स्वाभाविक रुचि

दूसरी ओर बच्चों के आरम्भिक वर्षों का अवलोकन करने पर हम पाते हैं कि गीत-कविता में बच्चों की स्वाभाविक रुचि होती है। वे चाहते हैं कि उनके पास गाने-गुनगुनाने के लिए पंक्तियाँ हों। उनके जीवन में नाचते-कूदते हुए गाने के अवसर हों। ऐसे में जरूरत योजनाबद्ध ढंग से काम किए जाने की है। और काम करने का सीधा सरल तरीका यही है कि बच्चों के साथ कविता को हाव-भाव के साथ गाया जाए। इसके लिए ज़रूरी है कि शिक्षक को बच्चों के स्तरानुरूप चुनी कुछ कविताएँ याद हों जिन्हें वे हाव-भाव के साथ गा कर सुना सकें। लेकिन न तो शिक्षकों को दस-बीस-पचास गीत कविताएँ याद हैं, न वे जुटाना चाहते हैं। हाव-भाव के साथ सुनाना तो आश्चर्यलोक की बात है। शिक्षक प्रशिक्षणों में अगर उन्हें गीत कविताएँ उपलब्ध करवा भी दी जाएँ और हाव-भाव के साथ

गाकर बता भी दिया जाए और उसके बाद उन्हें आमंत्रित किया जाए कि अब आप इन्हीं में से कोई एक कविता समूह के बीच करवा कर देखें, तो वे कहते हैं, "हम तो बड़ी कक्षाओं को पढ़ाते हैं।" या यह कि "मैं तो गणित पढ़ाता हूँ। भाषा के शिक्षक हमारे दूसरे हैं वे किसी और प्रशिक्षण में गए हैं, आना ज़रूरी था इसलिए उनकी जगह में आ गया हूँ।" इससे समझ सकते हैं कैसी हिचक शिक्षकों में व्याप्त है।

गीत- कविता के लाभ

शिक्षकों के साथ विस्तार से यह बात किए जाने पर कि अगर हाव भाव के साथ गीत-कविता गाए जाने को कक्षा की रोज़मर्रा की गतिविधि का हिस्सा बना लिया जाए तो इसके क्या परिणाम होंगे, वे बताते हैं कि कोई भी विषय पढ़ाने से पहले गीत कविता गा लेने से बढ़िया वातावरण निर्माण हो जाता है। बच्चों की झिझक दूर होती है। शिक्षक और बच्चे के सम्बन्ध सहज होते हैं। बच्चे भयमुक्त भी होते हैं। बच्चों का स्कूल से जुड़ाव और कक्षा में ठहराव, दोनों ही बढ़ता है।

सही है कि गीत-कविता से ये बातें सम्भव होंगी। इसके अलावा और क्या होगा? जैसे-जैसे चर्चा गरमाती है, वे बताते हैं, कविताएँ बच्चों को आसानी से याद रहती हैं, इससे उनमें सीखने के प्रति आत्मविश्वास बढ़ता है। उनका शब्द भण्डार बढ़ता है। सुनने-बोलने की क्षमता का विकास होता है। वाक्य संरचना की समझ बढ़ती है। मौखिक अभिव्यक्ति का विकास होता है। लिखित अभिव्यक्ति का विकास होता है।

इसके बाद आखिरकार ये बातें भी आ ही जाती हैं कि गीत-कविताओं से बच्चों की जानकारी भी बढ़ती है। कल्पनाशीलता का विकास होता है। समझ का विकास होता है। उनके भीतर मूल्यों का विकास होता है, आदि आदि ।

अब सवाल यही है कि उन्हें अगर पता है कि गीत-कविताओं से उनकी कक्षा में वातावरण निर्माण से लेकर भाषा विकास और मूल्यों के प्रति संवेदनशीलता आदि-आदि बातें सम्भव होती हैं तो यही सब सम्भव कर सकना ही तो उनकी भाषा की कक्षा का उद्देश्य है, शिक्षा का उद्देश्य है। फिर क्यों नहीं इसे कक्षा की रोज़मर्रा की गतिविधि बना लिया जाता है ?

शिक्षकों के समूह से बातचीत में एकबार तो एक शिक्षक चौंक गए थे कि, "हैं...! इससे भाषा का विकास होता है। फिर तो ये बहुत अच्छी चीज़ है। अब से हम इसे हमारे स्कूल में जाते ही लागू कर देंगे। " किसी शिक्षक की ऐसी प्रतिक्रिया आपके भीतर रुलाई और हँसी, दोनों के सोते एक साथ खोल देती है। यद्यपि शिक्षकों के समूहों में ऐसे भी शिक्षक अनेक बार मिलते हैं जो आप से बच्चों की कविताओं के संकलन माँगकर ले जाते हैं, उन्हें अपनी-अपनी डायरी में उतारते हैं ताकि कक्षा में बच्चों के लिए कुछ नए के साथ उपस्थित हो सकें।

कुछ कविताएँ कुछ योजना

गीत कविता पर वर्षभर रचनात्मक काम करने के लिए शिक्षक की योजना में विविधता होना ज़रूरी है। शिक्षक बच्चों को हाव-भाव के साथ कुछ दिन तक गीत-कविताएँ सुनाएँ। इसके बाद कक्षा के बच्चों को उपसमूहों में कोई गीत तैयार कर बड़े समूह में गाने के लिए कहें। जब बच्चे कुछ दिन दो-दो, चार-चार के उपसमूह में गा लेंगे तो धीरे-धीरे अकेले भी सुनाने का आत्मविश्वास प्राप्त कर लेंगे। शिक्षक सुनिश्चित करें कि उनकी कक्षा में बीस बच्चे हैं तो बीसों ही कक्षा को हाव-भाव के साथ कविता करवाने में समर्थ हों।

शिक्षक और बच्चे जिन गीत कविताओं पर सुनने-सुनाने का अभ्यास कर रहे हों, शिक्षक उनके पोस्टर बनाकर कक्षा में लगाएँ। जब

बच्चे गाए जा रहे गीतों का लिखित रूप कक्षा में प्रदर्शित देखेंगे तो उन्हें स्वतः ही पढ़ने का प्रयास शुरू कर देंगे, इससे उनकी पढ़ना-लिखना सीखने की गति में इज़ाफा होगा।

शिक्षक लगभग दस कविताएँ ऐसी चुनें जो बेहद सरल हों और जिनमें आगे बढ़ाए जाने की भरपूर सम्भावना हो। जैसे;

मेंढक तीन घूमने चले
दिनभर गाना बजाना किया
रुपया किराया कुछ ना दिया
ऐओ ऐओ
चुप ना रहे।
बिल्लियाँ तीन घूमने चलीं
दिनभर
रुपया किराया कुछ ना दिया
....
चुप ना रहीं।
बकरियाँ तीन .....।

इसी तरह की एक और कविता सुशील शुक्ल की है, जिसे बच्चे आसानी से आगे बढ़ा सकते हैं।

चींटी ओ चींटी
कहाँ गई थी?
अरे, यहीं थी पास में
चीनी की तलाश में ।
गाय ओ गाय कहाँ गई थी ?
अरे, यहीं थी पास में
घास की तलाश में।
....
कहाँ गई थी ?

इस काम को पहले शिक्षक बोर्ड करें। कुछ दिन बाद बच्चों को उपसमूह में और फिर अकेले करने के लिए दे सकते हैं। इससे बच्चों को कविता की रचना करना दूर की कौड़ी नहीं लगेगी। उनमें आत्मविश्वास आएगा कि वे भी कविता बना सकते है। यह काम अधिक प्रभावशाली हो उठेगा अगर बच्चों की स्थानीय भाषा की गीत-कविताओं के साथ इसकी शुरुआत की जा सके।

इसके बाद बच्चों को झरना, पेड़, पहाड़, नदी आदि विषय देकर दो-दो, चार-चार के समूह में कविता बनाने के लिए दे सकते हैं। बच्चों की बनाई कविता को शिक्षक बड़े समूह में सुनाएँ, उन पर चर्चा करें। इसके साथ बच्चों को पढ़ने के लिए एन.सी.ई.आर.टी. की पत्रिका फिरकी और छोटे बच्चों की कविताओं के संकलन जैसी पठन सामग्री भी दें। शिक्षक कक्षा में उनका पाठ करें ताकि बच्चों के भीतर उन्हें पढ़ने की ललक पैदा हो सके।

गीत कविता की जरूरत को समझकर, भाषा विकास में उसकी ज़बरदस्त उपयोगिता को देखकर और योजनाबद्ध ढंग से काम करके कक्षा में ऐसे सृजनात्मक वातावरण की निर्मिति सम्भव है, जिसमें बच्चों का मन तो रमेगा ही, वे इन्तज़ार करने लगेंगे कि कब सुबह हो, कब स्कूल जाएँ और कब वे काव्य का रसास्वादन करें।

इससे ज़रूरी नहीं कि वे भविष्य के कवि हों, यह उद्देश्य भी नहीं है, लेकिन इतना ज़रूर तय है कि वे भविष्य में बेहतर पाठक, बेहतर आस्वादक अवश्य बनेंगे। इतना हो जाता है तो फिर बताइए कि क्या होना बाकी रह जाता है।

प्रभात : लेखक-कवि। बच्चों के लिए कविता-कहानियों की 10 किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। सवाई माधोपुर, राजस्थान में निवास।

साभारः शैक्षणिक संदर्भ, अंक-46



स्वास्थ्य के लिए हमें प्रकृति के निकट रहना होगा।

पत्ते

स्वास्थ्य के रक्षक

आज हम एक ऐसी महामारी से जूझ रहे हैं, जिसमें करोंडों लोग अपनी जान गंवा चुके हैं। कोई परिवार ऐसा नहीं होगा जिसने इसमें अपना कोई नजदीकी नहीं खोया होगा। इसने हमारी बीमार शासन-व्यवस्था व खस्ताहाल चिकित्सा-व्यवस्था की वास्तविकता को तो उजागर किया ही है। हमारे खान-पान व जीवन-शैली को भी प्रश्नांकित किया है। डिब्बाबंद औद्योगिक खाद्य एवं पेय पदार्थों के अत्यधिक प्रचलन का मानव की रोग प्रतिरोधक क्षमता पर नकारात्मक प्रभाव का अहसास भी करवाया है।

स्वास्थ्य के नाम पर सिर्फ हस्पताल, दवाई, डाक्टरों - नर्सों, योग-व्यायाम की चर्चा करना ही काफी नहीं, बल्कि हमारे खान-पान और उसकी पोषकता पर ध्यान देना होगा। हमारे आसपास ही प्रकृति का खजाना मौजूद है, लेकिन पूंजीवादी उपभोक्तावाद के विज्ञापनों की चकाचौंध व भ्रमजाल में हमारी आंखों से ओझल है। मानव जीवन प्रकृति की उत्पति है, प्रकृति के संसर्ग में ही उसका जीवन है। यदि मानव को स्वस्थ रहना है तो प्रकृति के निकट रहना होगा।

हमारे चारों तरफ पेड़-पौधों, बेलों आदि के तरह-तरह के पत्ते हैं। पत्तों से हमें कई स्वास्थ्यवर्धक तत्व मिलते हैं, जो हमारी रोग प्रतिरोधक क्षमता में वृद्धि करते हैं। पत्तों में औषधीय गुण मौजूद हैं, जो पेट, गुर्दे, हृदय, चर्म, मधुमेह, स्त्री संबंधी रोगों को दूर करने में मदद करते हैं।

मुट्ठी भर पत्तों को एक गिलास पानी में 3 - 4 मिनट तक उबालने से इनके औषधीय गुण पानी में घुल जाते हैं।

डा. खादर वली का कहना है कि प्रतिदिन सुबह खाली पेट इनकी चाय/काढ़ा/कषाय पीने से रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। एक समय में एक प्रकार के पत्ते की ही चाय पीनी चाहिए। स्वाद के लिए गुड़ आदि भी इसमें मिला सकते हैं। डा. खादर वली ने कुछ गुणकारी पत्तों के बारे में विस्तार से बताया है उनकी सूची यहां दी जा रही है।

काढ़े बनाने के तरीके



- काढ़े के लिए चाहिए मुट्ठी भर पत्ते।
- 200 मि.ली. (एक ग्लास) पानी उबालिए।
- उस पानी में मुट्ठी भर के पत्ते डालिए। तीन मिनट तक उबालिए।
- उसके बाद स्टोव बंद करके बरतन ढक कर दो मिनट छोड़ दीजिए।
- बाद में पानी को छानिए। उन पत्तों को मत खाइए।
- काढ़े को गरमागरम मत पीजिए। गुनगुना होने पर या ठंडा होने पर ही पीजिए।
- पत्तों के काढ़े को सुबह खाली पेट लेना श्रेयस्कर है।
- काढ़े को स्वादिष्ट बनाना हो तो उसमें दो बूँद ताड़ के गुड़ की चाश्नी मिला सकते हैं।
- ताँबे या मिट्ठी के घड़े का पानी काढ़े बनाने के लिए उपयोग करें।

नीम, पपीता, पीपल, बिल्व (बेलपत्र), हरा धनिया , मेथी, तुलसी, सहजन, अंबाडा, करीपत्ता, बिर्यानी के पत्ते (तेजपत्ता), गिलोय पुनर्नवा, कुशा, पान, पारिजात।

देस हरियाणा प्राप्त करने के लिए संपर्क करें		
कुरुक्षेत्र	विकास साल्याण	9991878352
	योगेश शर्मा	9896957994
यमुनानगर	बी. मदन मोहन	9416226930
अंबाला शहर	जयपाल	9466610508
करनाल	अरुण कैहरबा	9466220145
इंद्री	दयालचंद जास्ट	9466220146
घरौंडा	राधेश्याम भारतीय	9315382236
	नरेश सैनी	9896207547
जीन्द	मंगतराम शास्त्री	9416513872
टोहाना	बलवान सिंह	9466480812
नरवाना	सुरेश कुमार	9416232339
सोनीपत	विरेंद्र वीरू	9467668743
पानीपत	दीपचंद निर्मोही	9813632105
पंचकुला	सुरेंद्र पाल सिंह	9872890401
	जगदीश चन्द्र	9316120057
रोहतक	अविनाश सैनी	9416233992
भिवानी	का. ओमप्रकाश	9992702563
दादरी	नवरत्न पांडेय	9896224471
सिरसा	परमानंद शास्त्री	9416921622
हिसार	राजकुमार जांगड़ा	9416509374
महेन्द्रगढ़	अमित मनोज	9416907290

देस हरियाणा प्राप्त करने के लिए संपर्क करें		
मेवात	सिद्दीक अहमद मेव	9813800164
शिमला	एस आर हरनोट	1772625092
राजस्थान (परलीका)	विनोद स्वामी	8949012494
चंडीगढ़	ब्रजपाल	9996460447
	पंजाब बुक सेंटर, सैक्टर 22	
दिल्ली	संजना तिवारी , नजदीक श्रीराम सेंटर,	
	आर.के. मैगजीन , मौरिस नगर, थाने के सामने	
	एन.एस.डी. बुक शॉप	
ई-प्राप्ति	www.notnull.com/desharyana	

सत्यशोधक फाउंडेशन की नई प्रस्तुति

मनजीत भोला का ग़ज़ल-संग्रह

मनजीत भोला की ग़ज़लें किसान, मजदूर, दलित, वंचित, शोषित वर्गों के जीवन-संघर्ष और आकांक्षाएं बड़ी संजीदगी के साथ अपने में समाये हुए हैं। शासन सत्ताओं की संवेदनशून्यता व क्रूरता के साथ मानवता के लिए संघर्षरत शक्तियों का अदम्य साहस भी है। मनुष्य के आनंद-उल्लास के पलों को ग़ज़लों में संजोया है तो संकट के भारी क्षणों को भी अभिव्यक्ति दी है। भोला की ग़ज़लों से गुजरना अपने समय की धड़कन को सुनना है।

